शान्ता

राम की बहन

(संवाद-काव्य)

जगदीश गुप्त

प्रकाशक : लोकभारती प्रकाशन
पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-1
संसकरण : 2011

कापी राइट : जगदीश गुप्त
मूल्य : 95/-

❖

विषय सूची

1. भूमिका —vii
2. स्वास्तिका शान्ता—1
3. शान्ता की स्वानुभूति—2
4. मेरे मन की गति अनबूझी—5
5. उपेक्षिता—8
6. शान्ताकारम्—11
7. ऊहापोह—15
8. कथा-प्रवेश—20
9. पूर्वाभास—23
10. पाँच रथ—26
11. पांथशाला—27
12. आतिथ्य—29
13. अवर्षण—35
14. दशरथ-शान्ता—40
15. दशरथ-रोमपाद—42
16. अभिशप्त शब्द-भेद—44
17. शृंगवेरपुर—47
18. विलीन शब्दार्थ—52
19. शान्ता—54
20. शान्ता-शृंगी-संवाद—56

21. शान्ता-शृंगी—59
22. शान्ता-राम—61
23. राम-शान्ता—66
24. राम-शान्ता-संवाद—71
25. राम-शान्ता-संवाद—75
26. राम-शान्ता—86
27. राम-शान्ता-संदर्भ—91
28. कवि-कथन—98
29. सौन्दर्यमयी शान्ता—99
30. वाल्मीकि-शान्ता—102
31. शान्ता श्लोकमयी—105
32. सीता-शान्ता—110
33. कन्या होना पाप नहीं है—112

परिशिष्ट

शान्ता के प्रति निजी धारणा और उसके सजीव व्यक्तित्व की कल्पना—115
शान्ता : राम की बहन—118
राम-काव्यों में शान्ता का अस्तित्व—121

•

भूमिका

विगत कई वर्षों के अन्तराल ने कवि के रूप में मुझे शान्ताकारम् बना दिया था | 'शान्ता' मेरे भीतर प्रेरणा के रूप में इतनी जाग्रत रही कि रोग-शय्या भी मुझे परास्त नहीं कर सकी | आपरेशन के लिये जाते समय किसी ने पूछ, कैसा लग रहा है ? मैंने तुरन्त कबीर की यह पंक्ति सुना दी—

हम न मरैं मरिहै संसारा | हम का मिला जियावन हारा ||

सचमुच हुआ भी ऐसा कि अन्ततः मैं अपनी जिजीविषा के साथ बच ही गया | शान्ता और राम के अभेद का मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हुआ | मेरे राम ने मुझे शान्ता रचने की पुनः शक्ति दी | मेरा मन शान्ता के सृजन में लीन था, ठीक होने के बाद भी लीन रहा |

उसके रचना-सूत्र जहाँ-जहाँ से मिले, सहेजता रहा | भव-भूति के 'उत्तररामचरित' का यह श्लोक आधार बन गया | पूना के एक विद्वान ने मुझे उसके पाठ-भेद की ओर इंगित किया—

पञ्चप्रसूतेरपि राज्ञ आसीत्, प्रियो विशेषेण सबाहु शत्रुः |
वधू चतुष्केऽपि तथैव शान्ता प्रिया तनूजास्य यथैव सीता ||46||

'शान्ता' की जगह 'नान्या' पाठ भी मिलता है पर अर्थ वही है, दूसरा नहीं | शान्ता और सीता की युति यहाँ दर्शनीय है | अयोध्या में 'शान्ता' की उपस्थिति पुत्रेष्टि-यज्ञ के बाद भी कई जगह मानी गयी है | यथा—

'साकेत' के नवम सर्ग में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने एक छंद में भवभूति की प्रेरणा से एक अद्‌भुत कल्पना की— दोहद की, कालिदासीय धारणा के अनुसार | इस प्रसंग से 'शान्ता' के प्रति गुप्तजी का आदर भाव 'सती' शब्द से विशेषतः प्रकट होता है | ननद-भाभी का लोक-प्रचलित विनोद भी इसके मूल में है |

आई हूँ सशोक मैं अशोक आज तेरे तले,
आती है तुझे क्या हाय ! सुधि उस बात की |
प्रिय ने कहा था— प्रिये ! पहिले ही फला वह,
भीति जो थी उसको तुम्हारे पदाघात की |

पृष्ठ संख्या : vii

देवी उस कान्ता सती शान्ता को सुलक्ष कर,
वक्ष भर मैंने भी हँसी यों अकस्मात् की |
भूलते हो नाथ, फूल फूलते ये कैसे, यदि
ननद न देती प्रीति पद-जलजात की ||

मुझे विश्वास हुआ कि भारतीय काव्य-परम्परा में 'शान्ता' लिखकर मैं अकेला नहीं पड़ूँगा वैसे 'सायर सिंघ सपूत' को चरितार्थ करने के लिये मैं तैयार था—लीक छोड़ने के लिये भी |

लोक-साहित्य ने मुझे सीता की ननद के रूप में शान्ता का अस्तित्व देखकर आश्चर्य हुआ पर उसे अनाम पाकर विस्मय भी हुआ | 'राम कथा' लिखकर मेरे सहपाठी फादर कामिल बुल्के ने परोक्ष रूप से सहायता की | देश-विदेश में प्रचलित सारी कथाएँ-अन्तर्कथाएँ उसमें संक्षेप्तः उल्लिखित हैं | शान्ता ने भीतर से और धोबी ने बाहर से सीता-निर्वासन में योग दिया | लोहिया जी ने राम-कथा को निजी दृष्टि से देखा तो इस घटना को 'ननद की नटखटी' कहकर भारतीय लोक-चेतना का सम्मान ही किया | बिना ऐसी सांस्कृतिक धारणा के चित्रकूट में रामायण मेले की कल्पना नहीं की जा सकती |

— जगदीश गुप्त

पृष्ठ संख्या : viii

शान्ता
राम की बहन

स्वस्तिका शान्ता

शान्ता-सीता लव-कुश-युता, स्नेह-वात्सल्य-पूर्णा,
जानें-मानें मुनिवर-कृपा आश्रमी भूमिका में |

लालें-पालें जन-मन-मयी भाव-संभावनाएँ,
देखें-लेखें सब कुछ नये काव्य की सर्जना में |
शान्ता-समा पाकर दिव्य कान्ता,
शृंगी लिये कोमल भाव-भंगी |
बने सदा पावन लोक-वंद्या,
रामाग्रज-प्रेरित अग्रपूजा |
किस क्षण वह जन्मी, देश-निष्कासिता हो,
फिर निज घर आयी, शृंगि-शान्ता कहायी |
क्रतु-कृत जिसके हों, पीठ पर चार भाई,
दशरथ तनया ही स्नेह की स्वस्तिका है |

•

शान्ता की स्वानुभूति

मैं पहली सन्तान,
मिला क्या मुझको गौरव !
दे दी, गयी गोद,
या मुझको निष्कासन मिलना था रौरव |
क्या था मेरा दोष,
मात्र यह, मैं कन्या थी |
वह भी पहली
कैसे बनती उत्तराधिकारी, वन्या थी !
नगर और नागर स्वभाव,
मुझको खलता था,
नारी थी,
दावाग्नि-सदृश अन्तर जलता था |
वन ही उर्वरता देता है, दावानल को |
नगर सदा सीमित रखता है—
परिखा-जल को |
नारी पर विश्वास नहीं,
केवल आँसू पर |
कुत्सा मन में जगी,
जहाँ काया हो सुन्दर |
मेरे पूज्य पिताश्री की रानियाँ तीन थीं |
गर्वमयी थी एक, शेष दोनों अधीन थीं |
नव परिणय का शासक

पृष्ठ संख्या : 2

अधिकार रहा है |
और पूर्व परिणीताओं का,
सारा जीवन भार रहा है |
मुझे जन्म से हीन मानकर
गोद दे दिया |
पर निज कुल की रीति तोड़कर,
वचन ले लिया |
उसने जो नवपरिणीता थी,
नीति-कुशल थी |
मति ऐसी फिर गयी, वन गयी हठी अचल थी |
मेरे कुल की कोख रही सूनी, मलीन थी |
कोई पुत्र नहीं उपजा रानियाँ तीन थीं |
केवल अधिकारी होना था पुत्र-मात्र को |
मैं थी कुल-कन्या, बदले क्यों हीन गात्र को |
मुझे लगा, कर्तव्य बना जो वे भी धारें |
मेरे पति पुत्रेष्टि-यज्ञ के लिए पधारें |
भूल गये दशरथ प्रणयी बन
निज कुल-धर्म रहा कुंठित हो |
निरपराध थे राम, दिया वन,
राज्य भरत को, भू-लुण्ठित हो |
दशरथात्मजा होकर भी
मैं रही उपेक्षित,
अन्तर छिलता |
मुझे दूर से ही सब कुछ सुनने को मिलता |
रही जहाँ भी,
इस कुल का हित मैंने चाहा |
मेरा अन्तर्भाव, किसी ने नहीं सराहा |

पृष्ठ संख्या : 3

वनवासी का वरण कर लिया,
था यह भी अपराध
क्षमा क्यों ?
दिया किसी ने नहीं मुझे आशीष,
स्नेह का हाथ थमा क्यों ?

अपमानित होकर भी मैंने,
अवधवास संकल्प दिलाकर |
श्रृष्यश्रृंग को मैं ही लायी साथ,
यहाँ तक शपथ दिलाकर |
मेरे पति जामाता होकर,
कैसे जाते बिना निमंत्रण |
मैंने ही सब साध किया,
संदेश भेज पाया आमन्त्रण |
अपने पति को यज्ञ कार्य के लिए
सहज कर लेना तत्पर |
कैसी टेढ़ी खीर, जानती हूँ मैं अन्तर |
लगा वर्ष भर, करने में मनुहार सभी को |
कठिनाई से मिला इष्टि-आधार सभी को |
जो रहते हैं मुखर, भाव उनसे कहना क्या ?
मौन रहे जो सदा, और उनसे सहना क्या ?
मेरे पति ने दिया यज्ञ-चरु, प्रत्यक्षी हूँ |
सब जन मेरे बन्धु, सभी की मैं साक्षी हूँ |
कैसे दे दूँ अपने बहनापे की राखी |
राम ब्रह्म बन गये, बाँधती कैसे राखी |
किन्तु राम से मेरा नाता,
कैसा क्या है कौन जानता ?
कितना गहरा रहा जलाशय,
वह तो मेरा मौन जानता |

▪

मेरे मन की गति अनबूझी

मेरे मन की गति अनबूझी
पुत्र-कामना थी, उनको, गर्हित पुत्री की काया |
पट्टमहिषियों के मन में वात्सल्य कहाँ रह पाया |
नृप दशरथ के राजमहल की यह कैसी थी माया |
इष्टि-यज्ञ अपराध हो गया, फिर क्यों नहीं बुलाया |
याद न आयी कभी किसी को, यह अपशकुनी छाया |
उर में चुभता श्रृंग बन गयी, ऋषि श्रृंगी की जाया |
मेरी कथा अरूप-अजानी, मेरी व्यथा अबूझी |
मेरे मन की गति अनबूझी |

0

मेरी जीवन-गति अनबूझी
क्षत्री-कन्या ऋषि-परिणीता,

मातृ-पक्ष था मेरा रीता |
अपहरणी, रावण-भयभीता,
मुझे जान पायी क्या सीता ?
अपने मन की बात कहूँ क्या ?
बिना कहे ही, मौन रहूँ क्या ?
किसने रोपी, किसने सींची |
किस तरु की बाँहों ने भींची |
जाने किस अंकुर से उपजी,
यह विषलता अरूझी

▪

चारों बन्धु ब्याह कर आये |
मिथिला से नव-वधुएँ लाये |
घर–घर वन्दनवार सजाये |
अवधपुरी में मंगल छाये |

यह कैसी विधि की विडम्बना !
कौन कहेगा इसे कल्पना |
जीवित होकर इस धरती में,
परछन करने बहन न आये !
एक कुटिल करनी मुझको—
उस अंधकार में सूझी |
मेरी जीवन-गति अनबूझी |
0
मेरे मन की गति अनबूझी
कितना मैंने सहा, मौन हो,
तिरस्कार इतना, कि कौन हो ?
कहो कुशल कुछ अवध-धाम की,
बड़ी बनी हो बहन राम की !
क्यों इतनी ममता है तुममें ?
वर्णेतर समता है तुममें ?
अपने मन की गाँठें खोलो,
किसने तुम्हें बुलाया बोलो ?
गंध-पुष्प में हुई समाहित,
कंटक-पंथ अरूझी|
मेरे मन की गति अनबूझी |
कमल कोष हूँ, कमलाक्षी हूँ |

पुत्र-यज्ञ की मैं साक्षी हूँ |
किन्तु यही विधि की विडम्बना |
मुझमें उपजी बन्धु-कामना |

पृष्ठ संख्या : 6

जब भी हित मन में आता था |
अहित स्वयं ही हो जाता था |
शान्ता हूँ, सब बात सहूँगी |
फिर-फिर अन्तर्दाह दहूँगी |
एक वृत्ति से वृत्ति दूसरी,
अपने में ही जूझी |
मेरे मन की गति अनबूझी |
स्वाभिमानिनी मैं थी रुष्टा |
भले कहें सब मुझको दुष्टा |
कवियों ने मुझको पहचाना |
सहज रिक्तता-पूरक माना |
लोक-चित्त में बनी रहूँगी |
युग-युग अपनी बात कहूँगी |
जुड़कर राम-कथा से ऐसे,
यह अस्तित्व मिटेगा कैसे |
केवल व्यथा-कथा सीता की
वाल्मीकि को सूझी |
मेरे मन की गति अनबूझी |

पृष्ठ संख्या : 7

•

उपेक्षिता

सधवा हो,विधवा हो या क्वाँरी उपेक्षिता |
रघुकुल में है सदा रही नारी उपेक्षिता ||
मैं पहली संतान, मिला क्या मुझको गौरव ?
छीन ली गयी गोद, रह गया केवल रौरव |
* * * *
क्या था मेरा दोष, मात्र यह, मैं कन्या थी |
कैसे पाती उत्तराधिकार, निर्गत वन्या थी |
नगर और नागर स्वभाव मुझको खलता था |
नारी थी, दावाग्नि सदृश अन्तर जलता था |

वन ही उर्वरता देता है, दावानल को |
नगर सदा सीमित रखता है, परिखा-जल को |
नारी पर विश्वास नहीं, केवल आँसू पर |
कुत्सा मन में भरी, जहाँ काया हो सुन्दर |

मेरे पूज्य पिताजी की रानियाँ तीन थीं |
गर्वमयी थी एक, शेष दोनों मलीन थीं |
नव परिणय का शासक को अधिकार रहा है |
नयी रानियों का तो जीवन भार रहा है |
* * *
मुझे जन्म से हीन मानकर गोद दे दिया |
पर निजकुल की रीति तोड़कर वचन ले लिया |
उसने ही, जो युद्ध-कुशल थी, नीतिकुशल थी |
दृढ़ता थी कर्मों में, मन में अतिकोमल थी |

भूल गये राजा प्रणयी बन, निजकुलधर्म रहा, कुण्ठित हो |
निरपराध थे राम, दिया वन, राज्य भरत को, भू लुण्ठित हो
मैंने सब कुछ सुना दूर से ही अनपेक्षित |
दशरथात्मजा होकर भी मैं रही उपेक्षित |

रही जहाँ भी, इस कुल का हित मैंने चाहा |
मेरा अन्तर्भाव किसी ने नहीं सराहा |
वनवासी का वरण किया, अपराध किया क्या ?
सहज भाव से, हो प्रसन्न आशीष दिया क्या ?
इससे बढ़कर और दंड क्या, क्षमा-दान क्या ?
जन-जीवन में इसका अंतिम समाधान क्या ?
सूनी कुल की कोख, बनी कबसे उदास थीं |
कोई पुत्र नहीं उपजा रानियाँ पास थीं |
केवल अधिकारी होना था, पुत्र-मात्र को |
मैं थी कुल-कन्या, बदले क्यों हीन गात्र को |
यही बना कर्तव्य अगर, तो वह भी धारें |
मेरे पति पुत्रेष्टि-यज्ञ के लिए पधारें |
अपमानित हो कर भी मैंने,

अवध-वास संकल्प दिलाकर |
शृंगी को मैं ही अपने साथ ले गयी |
बार-बार निज कसम खिलाकर |
मेरे पति जामाता होकर कैसे जाते बिना निमन्त्रण |
मैंने ही सब साध लिया संदेश भेज सादर आमन्त्रण |
अपने पति को यज्ञ-हेतु कर लेना तत्पर |

कैसी टेढ़ी खीर, जानती हूँ मैं अन्तर |
लगा वर्ष भर करने में मनुहार सभी को |
कठिनाई से मिला इष्टि-आधार सभी को

पृष्ठ संख्या : 9

x x x x

जो रखते हैं मुखर-भाव सबके प्रति, उनसे कहना ही क्या|
यों उन सबके बीच निरन्तर निष्क्रिय होकर रहना ही क्या|
जन्म-जन्म तक, किन्तु राम से मेरा नाता कौन जानता |
कितना गहरा रखा जलाशय, वह तो मेरा मौन जानता |
कैसे दे दूँ मैं अपने बहनापे की साखी |
राम ब्रह्म बन गये, बाँधती कैसे राखी |
मेरे पति ने दिया यज्ञ-चरु, मैं साखी हूँ |
सब जन मेरे बंधु, सभी की मैं राखी हूँ |

पृष्ठ संख्या : 10

▪

शान्ताकारम्

वह वाणी
जो मन के भीतर
रही घुमड़ती |
वह वाणी
जो युग समुद्र में
रही घुमड़ती |
मानव-मन,
जिसके कहने-सुनने को आतुर |
कब से था |
सत्पात्र खोजता
पुरा-कथा में|
क्रौंच-कथा में |
कभी शान्त हो, कभी भयातुर |
अनायास आकार उपजते,
शाखाएँ हो रहीं दिशाएँ|
लय-मय होकर
रूप सँवरता, रंग सिरजते,
अर्थ छिपाती संकेतों में,
शब्दहीन लगती भाषाएँ |
रचनाधर्मी मनस्तत्व

लघुता में भी ब्रह्मांड हो रहा |

पृष्ठ संख्या : 11

कभी चित्रमय
कभी काव्यमय
पल्लव-दल द्रुम-काण्ड हो रहा |
स्वयं देखता कवि,
अपनी छवि |
छाया में प्रतिबिम्बत
ज्यों रवि |
ओस-बिंदुमय हरियाली पर,
बाँहें खोले धूप पसरती |
कण-कण में—
जीवन विस्तारित
दृग विस्फारित
अन्तरिक्ष में,
सतत तरंगायित जलनिधि-रचा |
मेरे मन में
अमित सीपियाँ
रचनाधर्मी निज स्वभाव से—
कर क्षण-कण को, मोती करतीं |
मुक्त-भाव से, झलमल-झलमल,
निजता में अपनी छवि भरतीं |
एक विशाल सृष्टि-तरु
मन के भीतर उगता,
युगों-युगों से यह क्रम चलता,
—अव्याहत गति |
वत्सलता की धार
अश्रुमय होकर बहती |
प्रकृति निरन्तर सब कुछ सहती |

पृष्ठ संख्या : 12

माता भूमि:, माता भूमि:
करता पृथ्वी-पुत्र क्रंदना |
जैसे “माँ के लिए” सिरज कर,
मैंने की थी मातृ-वंदना |
एक प्रतिध्वनि गूँज रही है
अन्तरिक्ष में |
ध्यान लगाकर सुनती हूँ मैं,
सतत उसी को |
मेरा रचना-कर्म
स्वयं ही मेरा परिचय |

सोती-जगती
स्वप्न-भूमि हो रही मनोमय |
हर विचार रचना में आकर
घुलनशीलता अपना लेता |
फिर से मनस्ताप ही उसको
नये रूप में दृढ़ता देता |
रूप स्वयं शतमुख हो उठता
पारदर्शिता आ जाने पर |
अंत:करण बोलने लगता |
सहज दिव्यता पा जाने पर |
कहीं वैखरी, कहीं मध्यमा,
कहीं परा तारतम्य बनाती |
शब्द-शब्द, अक्षर-अक्षर में,
वाणी पश्यन्ती हो जाती |
मानव-मन,
युग-मन,
अन्तर्मन,
अतल समुद्रों का यह संगम !

एकाकर
हृदय कर देता,
लय-मय हो जाते जड़-जंगम|
संकट झेले बिना प्रेय भी
श्रेय नहीं बन पाता निश्चय |
मन करता संस्कार स्वयं का,
और यही संस्कृति का आशय |

उत्तर-दक्षिण-पूर्व-समाहित
सिंधु निरन्तर लहरें लेता |
संस्कृति के पूरक प्रश्नों का
कवि-मन फिर-फिर उत्तर देता |

एक सूक्ष्म कन्या-कुमारिका

दीप्तिमान अब भी है उर में |
तीन समुद्रों को सम्हालती
त्रिगुण-त्रिवेणी अन्त:पुर में |

राम और सीता का जीवन,
प्रश्नांकित करती है शान्ता |
दोनों के एकत्व-भाव में
जीकर भी मरती है शान्ता |

पृष्ठ संख्या : 14

▪

ऊहापोह

पाँच वर्ष का अन्तराल था |
विकसित होने का सुकाल था |
माता ने निज धर्म निबाहा |
किया वही जो पति ने चाहा |
किन्तु विषाद हो गया गहरा |
जीवन जहाँ, वहीं था ठहरा |
कैसे गति ले आती जल में |
बँधा सरोवर, काई तल में |
कन्या ज्यों सरोजनी फूली |
गंध मधुर-मृदु, देह दुकूली |
बाँह बढ़ा कर राह रोकती |
कहाँ जा रही, मुझे टोकती |
कैसे कह दूँ इतना रुकना |
पुन: नियति के आगे झुकना |
जितना संभव हुआ, हो लिया |
जीव स्वप्न के पास सो लिया |
जाग गया मन अब क्या सोना |
ढूँढ़ फिरी घर, कोन-कोना |
मेरा क्या था, रही सोचती |
मन में पीड़ा, रही कोंचती |
मैं तो सुख-सौभाग्य लिये थी |
पर कन्या दुर्भाग्य लिए थी

पृष्ठ संख्या : 15

घर बाहर राजा की बेटी |
चली पराये घर ज्यों चेटी |
रथ थे दस, दशरथ के वाहन |
किन्तु हृदय था जैसे पाहन |
अपना रक्त मार्ग में बहता |
कहे बात जो कोई कहता |
आँख झुकाये देख रही मैं |
विधि-गति निश्चल लेख रही मैं |
आत्म गर्भ से जनी आत्मजा |
पुत्ररूप थी, बनी आत्मजा |
चूर-चूर हो गयी आरसी |
अंधा मुख था, बनी भार सी |
मौन हो रहा कुंठित वाणी |
मेरी बेटी जन-कल्याणी |
राजा के घर उपजा सपना |
फिर-फिर रोना और कलपना |
यही लिखा था भाग्य-चक्र में ?
कुटिल-काल-लिपि भाल वक्र में |
मेरी करनी फली दिशान्तर |
हुआ और भी गहन वनान्तर |
जब भी देखा, निश्चल पाया |
मेरी शान्ता, मेरी छाया |
उसको मुझे छोड़ना होगा |
बंधन कठिन, तोड़ना होगा |
ठहरो, पहले चुप रहने दो |
आँखों से निर्झर बहने दो |
आँसू हैं, बह ही जायेंगे |

देह-प्राण सब ढह जायेंगे |
पर कुछ दिन जीना ही होगा |
खारा जल पीना ही होगा |
कैसे कहूँ चटुल शान्ता से ?
कैसे कहूँ मृदुल शान्ता से ?
कैसे दे दूँ स्वयं हलाहल ?
कैसे कर दूँ पागल—विह्वल ?
कितने दिन रुक पाना होगा |
किसी समय तो जाना होगा |
साहस नहीं स्वयं कहने का |

बिना कहे, पीड़ा सहने का |
बच्ची है, कैसे सह लेगी |
चीखेगी या मौन रहेगी |
सह्य नहीं होगा “माँ” कहना |
किसी और पर निर्भर रहना |
पिता विमुख, मैं वह कन्या हूँ |
जंगल में फिरती वन्या हूँ |
कोई पूछे पिता कहाँ थे |
राज-काज था, यहाँ-वहाँ थे |
मुझे सदा ही वन्या रहना |
उच्छल-हृदय, अनन्या रहना |
माता रूग्णा, मैं अजान थी |
इतनी यात्रा, कठिन जान थी |
मर जाती तो माँ ही रोतीं |
वही पिता के आँसू ढोतीं |
मेरा क्या था, जीती-मरती |
नहीं निगल पाती यदि धरती |

जीवित मेरे ही कारण है |
रोम-रोम मुझमें धारण है |
रोम-पाद तो पिता सदृश हैं |
दशरथ जैसे काया-कृश हैं |
मैं भी तो उनकी ही काया |
नहीं साथ, यह उनकी माया |
स्वयं बुलाते,फिर-फिर आते
किन्तु रहे केवल बिसराते
माँ भीतर से टूट गयीं हैं |
ममता करुणा-स्नेहमयी हैं |
मैं उनका मन साधे रहती |
नन्हीं बाँहों, बाँधे रहती |
किन्तु इधर माँ बहुत व्यग्र हैं |
बिखरी-बिखरी-सी उदग्र हैं |
कभी अयोध्या, मथुरा, काशी |
चलने को आतुर प्रत्याशी |
पर जब मैं हठ करने लगती |
आँख अचानक झरने लगती |
मैं भी रोती, घबरा जाती |
क्या जाने मैं किसकी थाती ?

छूट न जाऊँ, रूठ न जाऊँ |
किसको अपनी बात बताऊँ |
मेरा मन भी कुछ कहता है |
माँ का दुख जीता-सहता है |
मुझे छोड़कर दूर जा रहीं |
मुझमें क्या कुछ दोष पा रहीं ?
मैं ही उन्हें खिझाती रहती |
मैं ही उन्हें रिझाती रहती |
मेरे कारण उनका जाना |

कैसे संभव, किसने माना ?
कहीं विवशता होगी कोई |
उनके साथ-साथ मैं रोई |
फिर भी मन की बात न जानी |
अब मैं उनसे स्वयं कहूँगी |
बिना तुम्हारे मैं रह लूँगी |
पर क्या आँसू रोक सकूँगी |
मैं भी उनके साथ बहूँगी |
वे जायें मैं केवल देखूँ |
वे जायें मैं छल-छल देखूँ |
वे जायें मुख फेर रहूँ मैं |
जीते जी, अंधेर सहूँ मैं |
अच्छा है अचेत हो जाऊँ |
महा-मुक्ति पीड़ा से पाऊँ |
शिथिल हो गयी थककर वाणी |
स्वयं सो गयी जनकल्याणी |

चली गयी माँ, नहीं जगाया |
मेरा भाग्य अजाग्रत पाया |
जिस मुद्रा में उनको जाते |
मैंने देखा मुझे सुलाते |
वही ध्यान आँखों में छाया |
मेरी माँ का मुख ललचाया |
रच दी मैंने उनकी प्रतिमा |
फूल चढ़ाती मन में महिमा |
प्रकृति स्वयं घन छाया करती |
नभ में तारक-दीपक धरती |

मेरे भीतर मानस-मंदिर |
फिर क्यों मेरा मन हो अस्थिर |

पृष्ठ संख्या : 19

▪

कथा-प्रवेश

रघुकुल के
अन्तःपुर में
कुछ घटित हो रहा |
हवा, एक पत्ती की गति से
सत्य कह गयी |
पत्ती काँपी बार-बार
धरती तक आने की कोशिश में
बार-बार झोकों ने उसको
विपथ कर दिया |
लोग अर्थ-संकेत खोजते रहे गूढ़तर
चिंता थी विह्वलता थी, कातर उर अन्तर |
क्या होगा ? कैसे क्या होगा ?
नहीं ज्ञात जब तक रहस्य-पथ |
राज-वंश में
हर्ष और उल्लास छिपा कब !
मृत्यु, उसे कब तक कोई
ढँक सका अन्त तक |
सत्य प्रकट हो ही जाता है
मानव-मन की यही सुगति है |
आपस में दण्ड-धर बोलते संकेतों से,
परिचारक मिल-मिल कर अपने
मन का कुछ-कुछ बोझ बाँटते |

पृष्ठ संख्या : 20

आँखों की भाषा
कानों तक नहीं पहुँचती |
जब भी कुछ कहना होता,
भीतर ही भीतर, अपने मन से वे कह देते |
चिन्ता, कब आतंक रूप का
देने लगी सभी को अनुभव |
क्या जाने क्या हो जायेगा
प्रकट अयोध्या के जीवन में |
राजा के विश्वास-पात्र सब,
गूढ़ मन्त्रणा करते मिलकर |
कुछ पारिषद् और कुछ द्रष्टा
भावी गति को आँक रहे पर |
कुछ कपोल-कल्पना

तैर जाती पत्ती के साथ हवा में |
जिसको जैसा प्रतिभासित होता,
कह देता
सूत्र सत्य का मन थामे |
लगा किसी को
कोई जीवित सत्य मिल गया |
मुरझाया सा चेहरा
सहसा स्वयं खिल गया |
कुछ प्रसन्न थे
किन्तु नहीं विश्वास उन्हें था
अपने मन पर,
इधर-उधर की सुनते तो धीरज खो देते |
ऐसा क्या है
जिसे छिपाया गया सभी से |

पृष्ठ संख्या : 21

जिसको भी आभास मिला
वह चिन्तातुर था |
राजपक्ष से जुड़े न जाने
कितने जन थे
सब चिन्तित थे
क्या जाने कैसा रहस्य है !
इतने दिन तक उसे छिपाया गया
सभी से |
आधी रात
पाँच रथ निकले
सैन्य सुरक्षा लिये
सशंकित |
कोई नहीं देख पाया,
उनकी गति पर
किसकी छावि अंकित ?
पंचप्राण से चले पंच–रथ
जीवन की रक्षा का व्रत ले |
कहाँ किधर जाना है उनको
रथवाही भी नहीं जानते |
केवल थे सुमन्त पथ-दर्शक
उन्हें ज्ञात थी गूढ़ योजना |
जो रहस्य के परम नियामक
किन्तु कठिन था उन्हें खोजना |
वेश भिन्न था,
नहीं सहज पहचाने जाते |
पर थी मुख की दीप्ति
स्वयं कह देती सबसे

कोई महापुरूष हैं, वैसे किसे बताते ?

▪

पूर्वाभास

राज-वंश में
जन्म-मृत्यु दोनों
रहस्यमय हो जाते हैं,
जब भी कभी
सहजता से वे
दूर दिखायी देने लगते |
स्वार्थों की काली पर्तों में
उनका असली रूप
नहीं पहचाना जाता |
मानवता की इतनी निर्मम
हत्या का षड्यन्त्र
वही रचते हैं
जिन पर
रक्षा का सब भार रहा है |

हर्ष-विषाद
एक सीमा पर
हो जाते हैं स्वयं निरर्थक |
सबको अपनी ही रक्षा की चिन्ता रहती |
वस्तु स्थिति को
नाटकीय आयाम
स्वयं ही कस लेता है
एक विवशता
मानव की

दुर्दान्त नियति को
अर्थहीन करने में
नूतनअर्थखोजती|
यह समुद्र की लहरों जैसा
उद्धत, महाभँवर का अनुभव,
वह भी जर्जर तरी बनाकर
मन को दिशाहीन कर देता |
मन की स्थिरता
वर्षों तक कब कहाँ मिल सकी |

राजा हो या राज-वंश हो
उस रहस्यमयता में खुस-पुस
गूढ़ रहस्य बनी जनता की
मनोदशा का भाव खोजती |
हर अभाव में |
निज स्वभाव में |
'रघुकुल रीति सदा चलि आई |'
किन्तु वहाँ कब, किस प्रसंग में—
उसे बदल देना ही गौरवशाली लगता !
राजनीति तो सदा रही है अविश्वासमय
वारांगना-सदृश उसका स्वभाव होता है|
बाहर से आकर्षक, भीतर से करालतर
जिसने अनुभव किया
भर्तृहरि की गति पायी
जीवन की तीनों धाराएँ
संगम की पवित्र छवि देती |
राम-काव्य-धारा में
जब भी मेरा मन
कुछ खोजा करता |

पृष्ठ संख्या : 24

कोई मोती अमृत बूँद सा
मिल जाता प्रेरणा प्रदाता |
था शम्बूक ! महातेजस्वी
परम स्वाभिमानी, करुणामय
राम उसे वध करके
अपने को आदर्शहीन कर लेते
यह विडम्बना कवि को
कैसे सहज बनाती,
मानवता का जिसमें हो
प्रदीप्त अंकुर वह |
फिर "जयन्त" की कथा
न जाने मुझमें कितनी दीप्ति
जगाती रही निरन्तर |
इन्द्र-शची प्रतिरूप बन गये
राम–जानकी की ममतामय छवि से आहत |
स्वर्ग और पृथ्वी का जीवन
किस विडम्बना का गुन गाता |
कवि को सीता रूप इष्ट था
राम-रूप क्यों बनता जाता |

अब यह है नूतन-प्रसंग जो
सदा उपेक्षित रहा काव्य में |
शान्ता थी
दशरथ की कन्या
कहाँ मिल सका उसको गौरव |
रही भोगती अपमानित हो दारुण रौरव |

पृष्ठ संख्या : 25

▪

पाँच रथ

पाँच रथ जो चले पहले
कर्म-रथ थे,
कहाँ उनमें स्वयं कन्या दीख पड़ती |
ज्ञान-रथ जब आ गये सम्मुख प्रभामय,
हुआ बोध सुमन्त को अज्ञान का अपने |
दसों रथ साक्षात् दशरथ रूप लगते,
परम शान्ता वृत्ति उनमें सन्निहित थी |
प्राण दशरथ का
उसी में बस रहा था |
राम-छवि थी, रूप-कान्ता
तत्व यह किसने कहा था |

पृष्ठ संख्या : 26

▪

पांथशाला

ठहर पांथशाला में
सब विश्राम कर रहे
जाग उठे तो जीवन-चर्या
हुई गतिमयी |
स्नान-ध्यान, पूजा-अर्चन सब
कुलदेवी को अर्पित जैसे |
देवतुल्य कन्या का विग्रह
जिन हाथों में रहा खेलता
धन्य हो गये !
खिलखिल करता हास्य,
लगा उज्ज्वल कपूर सा |
आँखों में झरते—
सुगंधमय पारिजात सा |
दृष्टि-दोष

काजल-टीके से वारित होता |
और रूप-आलोक
स्वयं विस्तारित होता |
काले डोरे
हाथों-पैरों में रेखांकित |
नन्हीं-नन्हीं आकृतियाँ
निज गति से शंकित |
गाभे सी कोमल रक्ताभा
अंगों में सिंदूरी छाया |

पृष्ठ संख्या : 27

दूध-धार के बीच झलकती
नयी रंग-छवि, कालधौत हो |
उषा क्षीर-सागर के भीतर
डूब गयी ज्यों |
इतनी दिव्य-देह
कोमल सर्वांग अछूती |
नंदन-वन की पुष्प-राशि,
धरती को छूती |
नारी-कंठ समाहित स्वर में
गूँज उठा, पक्षी ईर्ष्याकुल |
षष्ठी देवी की समर्चना
हो जाती जैसे जन-संकुल |
सार्थवाह के साथ चल रहा
फिर से करता कोलाहल मन |
जगती जैसे मार्ग-चेतना
स्वयं चल रही शब्दमयी बन

पृष्ठ संख्या : 28

▪

आतिथ्य

राजभवन था,
ठहर गये आतिथ्य-भवन में |
मित्र भाव ही
स्नेह-सिक्त करता जीवन में |
रोम-रोम से
हृदय रिस रहा रोमपाद का |
नहीं रहा
आगन्तुक में

अनुभव विषाद का |
इतनी लम्बी यात्रा,
इन नव-शिशुओं के संग |
अपने को सहेजता
जैसे फिर भी अंग-अंग |
संकट था, कट गया
स्वप्न-सा बीत गया था |
हारा मन—
अपने भीतर से जीत गया था |
देशान्तर के साथ वनान्तर,
वन का अन्तर, मन का अन्तर |
राजधानियों का अन्तर
अन्तर का अन्तर |
नवजाता के साथ मातुश्री
विपुल राज-लक्ष्मी बन आयीं |
क्षीर-सिंधु में इन्दु तिर रहा

अन्तरिक्ष तक लहरें छायीं |
महासौध प्रतिबिम्बित होता,
नदी-धार में प्रतिमित प्रतिक्षण |
चक्रानुक्रम चलता फिर-फिर
परिवर्तन नर्तन में कण-कण |

स्वयं राजमहिषी ने आकर
दोनों हाथों हृदय उँडेला |
पहली ही पहचान तरल थी,
सुस्मितियाँ कर रहीं उजेला |
आँखें बिछतीं, आँखें खुलती,
पैरों पर आँखें ही आँखें |
शकुन-नीड़ रचता-सहेजता,
आर-पार पाँखें ही पाँखें |
इधर-उधर सर्वत्र अधिकता,
किससे किसको करे संतुलित |
श्वासों में तिरती मन की गति
भावों से मति ही आंदोलित |
पर्यंकों की धवल पंक्तियाँ
दूध-फेन सी हँसी बिछलती |
उष्ण श्वास से संस्पर्शित हो
जमी हुई हिम राशि पिघलती |
अनुनय-विनय, निरन्तर आग्रह

उधर, इधर संकोच-शील सुख |
सब अनुचर-अनुचरी जोहते,
तत्परता से, आज्ञा का रुख |
शिशुता हँसती, शिशुता रोती,
भरा-पुरा जीवन का अनुभव |
स्वप्न-भूमि आलोक बिछलता
अंधकार पर,जितना संभव |

पृष्ठ संख्या : 30

विनत भार्गवी कृतज्ञता से
रोमपाद-दशरथ की आत्मा|
स्वयं शान्ता रूप बन गयी
शान्त भाव रखती जीवात्मा |

हर प्राणी
अस्तित्ववान् होकर खिलता है |
रंग-रूप
उसके स्वभाव से ही मिलता है |
जनक-मुखी कन्या
सौभाग्यवती होती है |
यही भावना
लोक-हृदय में सुख-सोती है |
चक्रवर्ति के चिह्न
भाग्य का चक्र रच रहे |
निर्वासन ही मिला
किन्तु ये प्राण बच रहे |
लालन- पालन
अपनी ही माता के द्वारा |
पिता हुए दूरस्थ
मित्रता बनी सहारा |
रोमपाद का रोम-रोम
वात्सल्य भरा था |
आँखों में करुणा की छाया,
गोद भरी थी, हृदय हरा था |
विकसित होता अंग-अंग,
लावण्य छलकता |
कमल-नाल में
कमला का प्रतिबिम्ब झलकता

पृष्ठ संख्या : 31

नन्हीं-नन्हीं मृदुल उँगलियाँ,

हँसती आँखें |
खंजन जैसी पंख खोलतीं,
हिलती पाँखें |
बार-बार किलकारी भरता मन,
उत्सुकता से भर जाता |
काली आँखें, घनी बरौंनी,
रूप स्वयं जादू कर जाता |
नाऊ-बारी नेग माँगते
रानी देती सोना-चाँदी |
राजा लायें हार नौलख,
ढीठ ठिठोली करती बाँदी |
कैसे रुची अयोध्या उनको,
उनका मन कितना निष्ठुर है |
इतनी चटुल, टेरती आँखें
पिता विरत हों, कैसा उर है ?
कभी पालने में मन टिकता,
कभी खीझता, पैर पटकता |
जाने क्या है उसके मन में
नव जाता का अन्तर थकता |
कभी अभाव उसे लगता है
कभी स्वभाव उसे छलता है |
सब कुछ है, ममता है, सुख है,
पर जाने क्यों विह्वलता है |
इतनी नन्हीं जान,
बड़ी बातों का डर क्यों ?
कौन कमी है राजभवन में
नहीं लग रहा अपना घर क्यों ?
कितनी ऋतुएँ आयीं,
चली गयीं जीवन में |

कितने अनुभव आये,
छाप छोड़ते मन में |
बढ़ती आयु-सघन-श्री-शोभा,
घटती आयु, पल्लवित द्रुम-दल |
घटने-बढ़ने से ऊपर भी,
है अस्तित्व निरन्तर उज्जवल |
वही रूप शान्ता के मन में,
सब में सब कुछ देख रहा था |
अपनेपन का अर्थ कहाँ क्या,
रेखाओं में लेख रहा था |
कुछ आकार हृदय में बनते

कुछ आकार देह में ढलते |
आते-जाते स्वप्न-भूमि में
कितने डगमग पाँव बिछलते |
दोनों हाथ टेककर चलना
दोनों पाँव बढ़ाकर रुकना |
अपनी काया स्वयं सहारा
देती, फिर-फिर नीचे झुकना |
भाव-रूप कल्पना रूप हो,
बाँहों में सारा जग रहता |
माता के मन से शिशु का मन,
युगों-युगों से क्या-क्या कहता !
हिलते हुए सरोवर का सुख,
गिरती हुई पत्तियाँ जाने |
सोती हुई आँखों के भीतर
जाने कितने स्वप्न अजाने |
कलाकार के मन से जिसने
मानव-तन का रूप न देखा |

पृष्ठ संख्या : 33

एक पूर्णता की प्रतीति में
कितना कुछ रह गया अदेखा |
तुतली वाणी, अटपट कलवल,
भीतर विकसित बाहर अलवल |
विस्मय भरता प्रतिक्षण प्रतिपल
अनुभव होता अविरल चंचल |
कैसे अपने को समझाऊँ
मेरा क्या है, मेरा कितना ?
सब कुछ भीतर , सब कुछ बाहर,
मिले सहेज जहाँ कुछ जितना |
रानी ने अपना घर छोड़ा,
और दूसरा घर अपनाया |
एक आत्मजा, उभय राजकुल,
स्नेह पल्लवित ममता-माया |
बेटी शान्ता, कहाँ छिप गयी,
कब से ढूँढ़ रही बेचारी |
कितनी नटखट कितनी चपला,
पीछे छिपी मरी, थकहारी |
नहीं बदा था दशरथ को सुख,
नहीं आ सके कभी यहाँ तक |
वर्षों करती रही प्रतीक्षा,
दृष्टि खोजती रही जहाँ तक |
धावन धाये, फिर फिर आये,
बादल दल से बरसे, बिसरे |

बार-बार उपहार सहेजे,
रोज नहीं तो दुसरे-तिसरे |
कैसा भाग्य भार्गवी का है,
रानी है पर है निष्कासित|
नए जीव के लिए बँधी हूँ
क्या होगा उसका प्रत्याशित |

पृष्ठ संख्या : 34

▪

अवर्षण

सूखी आँखें
सूखी धरती,
हड्डी- हड्डी में,
मसान की छाया
गहरी होती जाती |
मृत्यु नसों में उतर रही है
धीरे-धीरे !
यम की मूर्ति
विहँसती-हँसती,
अट्टहास करने को आतुर |
गूँज रही पृथ्वी के भीतर
भूकम्पों की सरणी
कर रही महा-भीम-स्वर !
उद्वेलन, अन्दर ही अन्दर
पैठ रहा है,
प्रकट नहीं हो पाया
पूरी तरह अभी तक |
काली काली
कठिन दरारें
लील रहीं
फसलों पर फसलें
हरियाली भयभीत हो रही |
झुलस रहा है
धरती का मुँह

पृष्ठ संख्या : 35

नसें ऐंठती,
खिंचते-खिंचते
प्राण खिंच रहे |
ताँत-ताँत हो
आँत बज रही !

ज़िंदा लाशें
मुर्दा लाशें
दोनों में क्या फर्क रह गया |
धीरे-धीरे काठ हो रही
कोमल काया |
भूख-भूख
कानों में रिसती
घिसती जीभ
काल की छाया |
हर दरार में
साँस ले रहीं
केवल लाशें
प्यास बुझाने को
पानी अब नहीं
आँख के पास शेष है
लोहू चाट रही
दाँतों की कोर,
भोर से ही भूखी थी |
अपना माँस
आप ही खाती |
खाल नोंचती,
दाढ़ कोंचती |
पेड़ सूख कर
ईंधन बनते
कितने वन
झंखाड़ हो रहे |

खाल झुर्रियों में
फँस जाती
हारे-भरे तन
हाड़ हो रहे |
सारी धरती
जलती भट्ठी
चिनगारियाँ फूटती रहतीं |
श्वास-श्वास में आयु दहकती
अँगारों की सेज बिछाये,
प्रकृती वधू जल रही स्वयं ही |
धूआँधार नभ,
सब कुछ स्वाहा |

होम हो रहा विधि-विधान ही
मृत्यु-मेघ, ताण्डव दिग्-दाहा |
काली लपटें,
ऊँची लपटें,
लाल रक्त से
भीगी लपटें |
दावानल हर ओर पसरता
नीची लपटें
भारी लपटें
नगर ग्राम-पुर उजड़े-उजड़े
सभी मृत्यु-आवास बन रहे |
भण्डरों के स्वामी गर्वित,
आज भूख के दास बन रहे |
दो मुट्ठी क्या,
दो दोनों के लिये याचना,
रिरियान, रोन-बिसूरना,
दया-दृष्टी के लिए नाचना |
बच्चों तक को बेच रहे जन,
फिर भी कोई नहीं ले रहा |

कौन खिलाये किसे कहाँ तक,
खुद ही अपना प्राण दे रहा |
ऐसा काल, अकाल, भयानक,
महाकाल का नर्तन होगा |
मुण्डमाल से पटती धरती,
प्रलयंकर परिवर्तन होगा |
विषधर पसर रहे धरती पर,
पौधे उगल रहे विष-अंकुर |
वेध रही पाताल
कठिन दुर्लंघ्य दरारें !
नदियाँ अग्नि-धार बन जाती |
कैसी नैतिकत,
सिकता ही जहाँ शेष हो |
लूट-मार भी कहाँ,
जहाँ जलता प्रदेश हो |
सभी दिशाएँ नेत्रहीन हैं
बादल स्वयं बने याचक !
सबके मुँह पर मृत्यु लिखी है,
है कृतान्त ही सबका वाचक |
बार-बार उठते हैं बादल,

बरसे बिना चले जाते हैं |
बार-बार आशा बँधती है,
बारम्बार छले जाते हैं |
इन्द्र-कोप है या अकाल है,
वर्षो से वर्षा निरस्त है |
धरती हाहाकार कर रही
क्रूर विधाता कहाँ व्यस्त है ?
अन्तरिक्ष का मुहँ सूखा है,
एक बूँद भी नहीं पसीना |

पृष्ठ संख्या : 38

बिना इन्द्र की दया-दृष्टि के,
कैसे प्राणी का हो जीना ?
साँय-साँय चल रही हवाएँ |
उलटी पड़ी प्रेत-बाधाएँ |
मृत्यु स्वयं होकर भय-कातर,
खींच रही काली रेखाएँ |
दीवारों से आग भभकती
छूते ही पड़ रहे फफोले |
धधक रही हैं, सूखी डालें
कंकड़-पत्थर, जलते-शोले |
काल-कोठरी, खुले-किवाड़े |
लील रहे सबको मुँह फाड़े |
ऊपर-नीचे,दायें-बायें
साँय-साँय चल रही हवाएँ

* * * *

जगह-जगह यज्ञों की रचना, स्वाहा की आवृत्ति हो रही |
क्षीण-क्षाम काया विप्रों की, केवल मन की तृप्ति हो रही |
कहाँ मनुष्यों को पानी तक नहीं सुलभ, वे यज्ञ कर रहे !
बिना अन्न-जल बीते कितने दिवस, यज्ञ-पशु क्लांत मर रहे |
राज-पुरुष कर की चिन्ता में, प्रतिदिन अत्याचार कर रहे |
कशाघात कर खाल खींचते, प्राणों का अपहरण कर रहे |
कन्याएँ बिकती हाटों में, बच्चे बिना मोल बिक जाते |
कौन खिलाये, कौन पिलाये, निर्धनता में टूटे नाते |
मुद्राएँ हो रहीं निरर्थक, कब से पड़ी बखारी सूनी |
यों श्मशान घर भीतर पैठा, चूल्हे बुझे, रमाये धूनी |
जहाँ कहाँ रुक गये, वही घर, जिधर चल पड़े, वही राह थी |
जो मर गया, सुखी था सबसे, जीवन में केवल कराह थी |
जड़-जंगम सब एक सदृश्य थे, जीवित होती मृत्यु निरन्तर |
वह सुकाल था या दुकाल था भूल गया कवि करना अन्तर |

पृष्ठ संख्या : 39

▪

दशरथ-शान्ता

दशरथ— सुनो शान्ता, मैं निर्बल था |
पर सन्तति के लिए विकल था |
इन्द्र-सभा में अपयश मिलता |
शची-व्यंग्य से अन्तस छिलता |
रोमपाद की छाया तुम पर |
बनी निरापद रही, निरन्तर |
तुम्हें गोद देकर ले लेता ?
मैं उनको क्या उत्तर देता ?

शान्ता — गोद दिया या बोझ उतारा !
पीछे मुड़ कर नहीं निहारा |
निर्वासन क्यों दिया अवध ने ?
क्रूर कर्म क्यों किया अवध ने ?
बेटी-बेटे में अन्तर क्यों ?
उसे पास रखने में डर क्यों ?

दशरथ— रघुवंशी सन्तति के घोषित शत्रु परशुधर |
भीतर तक था व्याप्त नारियों में उनका डर |
उनका परशु सदा क्षत्री-हत्या में तत्पर |
नहीं जानता वह बेटी-बेटा का अन्तर |
तेरा जन्म, बन गया संकट, अवध त्याग कर |
करनी पड़ी मित्र के घर में शरण दिलाकर |
परशुराम का क्रोध झेलती रही भार्गवी |
साथ तुम्हारे कहाँ खेलती रही भार्गवी |
कौशल्या, केकई, सुमित्रा, पाट महिषियाँ |
नहीं ढाल बन सकी तुम्हारी अन्य रानियाँ |

शान्ता— मेरे परिणय की भी क्या सूचना नहीं थी ?
नहीं दिया आशीष या कि भावना नहीं थी ?

अन्तिम क्षण तक रहीं प्रतीक्षाकुल ये आँखें |
आप नहीं आये, जड़ थी व्याकुल ये आँखें
माता-पिता रहें अनुपस्थित, कुटिल कल्पना !
मेरे निर्णय की यह परिणति, यह विडम्बना !

दशरथ— मुझे उपेक्षा का ही तो यह दण्ड मिला है |
मित्र-भाव हो गया तिरोहित, मैं करता क्या ?
दूतों से नहीं खबर दी रोमपाद ने |

किया संकुचित अथवा वर्णान्तर-विवाद ने ?
लो मेरा आशीष, आज मैं स्वयं दे रहा |
अपने ही ऊपर मैं सारा दोष ले रहा |

शान्ता—मेरा जन्म हुआ क्यों, अब मैं यही सोचती !
कैसी थी वह अशुभ घड़ी, उर रही कोंचती !
माताश्री भी भूल गयीं या नहीं रहीं वे |
मेरी तरह उपेक्षा का आधार बनी वे |
आये आप, साथ में उनको नहीं लिया क्यों ?
परिणय पर एकाकी ही आशीष दिया क्यों ?

दशरथ— कितना जीतीं बिना तुम्हारे, कैसे जीतीं |

शान्ता— जैसे आप रहे यों जीवित, वैसे जीतीं |
मेरी माता हुई दिवंगत, मौन रहे सब ?
शत्रु नहीं तो वे फिर मेरे कौन रहे सब ?
चले जाइये आप, यहाँ से चले जाइए |
मेरे अपशकुनी मुख से तो त्राण पाइए |

दशरथ— मेरे पास नहीं कुछ कहने को बेटी !
विधि-विडम्बना ही अब सहने को है बेटी !
अंध-तापसी शाप मुझे तुम तक ले आया |
करनी भावी बने यही मन ने समझाया |
त्रिकालज्ञ हैं, गुरु वसिष्ठ आज्ञा है उनकी |
अपने कुल पर कल्याणी छाया है उनकी |
तुम्हें देखने की भी तो लालसा बनी थी |
तुम्हें क्लेश होगा इतना,....|
मौन हो गयी दोनों की वाणी यों सहसा |

▪

दशरथ-रोमपाद

दशरथ रोमपाद के घर में |
कहते कुछ करुणा के स्वर में |
विगलित-हृदय, स्नेह-ममतामय |
संकट का अनुभव, गरिमामय |

दशरथ— वर्षों बाद ध्यान कुछ आता |
पुत्री कहाँ, कहाँ जामाता |
उन्हें देखना चाह रहा हूँ |
अपने मन को थाह रहा हूँ |
क्या वे मुझको पहचानेंगे ?

अपना अभिभावक मानेंगे ?
अन्तराल का अनुभव करती |
काल-चेतना गति अनुसरती |
रंग-मंच पर पट-परिवर्तन |
होता रहा अलक्षित नर्तन |

शान्ता— यह शान्ता प्रणाम करती है |
चरणों में निज सिर धरती है |
मैं जानती आपकी पीड़ा |
किस कारण, मन में यह ब्रीड़ा |
बीत गया, जो भी होना था |
ममता का कोई कोना था |
वही आज अन्तर-स्वर देता |
जो दूरस्थ, पास कर लेता |

हृदय पाट देता सब दूरी |
खंड-दृष्टि कर देता पूरी |

दशरथ— वत्सल-नेत्र, नृपति ने देखा |
कितनी ललित भाग्य की लेखा |
मेरी बेटी, मेरी आत्मा !
मैं शरीर, तू ही जीवात्मा !
प्राण दान लेने ही आया !
तड़प रही थी मेरी काया |
कंठ रुद्ध था, गति अनुसरने |
लगे विलोचन आँसू झरने |

▪

अभिशप्त शब्द-वेध

एक बार दशरथ के मन में |
उपजा यह संकल्प विजन में |
करूँ स्वयं आखेट अकेले |
बहुत दिन हुए खाये-खेले |

रहे भटकते यों ही निष्फल |
दूर दिखा झलमल दर्पण-जल |

आहट मिली, चढ़ाये थे शर |
शब्द-वेध करने को तत्पर |
जैसे जल में कलश डुबोया
जाग उठा मन में पशु सोया |
बाण शब्द को वेध गया था |
मानव-स्वर का बोध नया था |
आर्तनाद ज्यों सुना श्रवण का |
चीख उठा अन्तर कानन का |
स्वयं बाण से विद्ध हो गये |
हत्याकर्मी सिद्ध हो गये |

माता-पिता तड़पते देखे |
वही श्रवण था, उनके लेखे |
किन्तु दिया जब उनको उत्तर |
मिला शाप अंधा, शोकातुर |

मेरे बेटे का हत्यारा |
तड़प - तड़प कर करे किनारा |

उसका बेट, हृदय तोड़कर |
वन-वन भटके राज्य छोड़कर |

देकर दारुण शाप, डर गये |
वे अंधे माँ-बाप मर गये |
वन में यह कैसी दुर्घटना |
प्यासे को पानी की रटना |

समाचार दूतों से पाया
कितना भीषण संकट छाया |
रोमपाद की काया काँपी |
शाप-धारणा सब में व्यापी |

कहीं और आपत्ति न आये |
कन्या नयी विपत्ति न लाये |
किन्तु कहीं भीतर से आयी |
नम-वाणी स्वर दिये सुनायी |
कष्टी पिता महा दुख होगा |

पर उसको भ्राता-सुख होगा |

हर अभिशाप, देवमय वाणी |
हो जाता निश्चय वरदानी |

अनुष्ठान से कालान्तर में |
जन्मेंगे दशरथ के घर में |
इसका पति अध्वर्यु बनेगा |
इष्टि-यज्ञ को सफल करेगा |

पृष्ठ संख्या : 45

नहीं अभागी, नहीं कुजाता |
भाग्यवती यह, यही सुजाता |

निर्मल शान्ता, पावन शान्ता |
उज्ज्वल वाणी, कोमल-कान्ता |

चर आये, चर गये लेश में |
गूँज गया संदेश, देश में |
रोमपाद-दशरथ की संगति
दूर करे सम्पूर्ण विसंगति |

पृष्ठ संख्या : 46

▪

श्रृंगवेरपुर

मुझे शाप वरदान लग रहा |
पुत्र-शोक की बात उठी तब—
पुत्र-लाभ भी संभव होगा |
मुझ में भावी स्वप्न जग रहा |
मुझे शाप वरदान लग रहा |

मेरी पीठ फलवती होगी,
मेरा अपयश मिट जायेगा |
मुझसे बड़ा कौन होगा,
जिसको लांछन से
त्राण मिलेगा |
सूर्यवंश में खिला कमला-दल
किरणों से म्रियमाण न होगा |

मिल जायें अंधे दम्पति को
मेरी आँखें,
एक बार वे स्वयं देख लें
अपने सुत को |
उनका सुत मेरा लघु भ्राता
नहीं रहा दशरथ की करनी
मिली उसे भी मेरी ही गति
वाण-विद्ध होकर धरती पर
गिरा अचेतन
काँवर दूर, पिपासा कुल थी |

पृष्ठ संख्या : 47

मात-पिता लगाये आशा
अभी मुझे जल देगा आकर
मेरा पुत्र पात्रमय होकर
यदि मैं होती पुत्र रूप में
उन्हें पिला देती जल जाकर |
श्रवण कुमार स्वयं हो जाती
आहत-तन करुणा से कातर |

वन में
राजकुमारों की छवि
पहली बार
निहारी मैंने |
मिथिला जाते हुए
हमारे आश्रम आये
श्याम-गौर तन
दोनों भाई
चकित हुई मैं
केवल दो क्यों ?
कहाँ गये वे
इन जैसे ही
युगल बंधु थे |
चतुरानन करते
दशरथ को !

परम पिताश्री को
चारों फल मिले अचानक |

अब यह कैसे हुआ

कि जोड़ी अलग हो गयी ?
मुझसे बिना बताये
पृष्ठ संख्या : 48

वन में स्वयं ले गये
विश्वामित्र महामुनि
मेरे सहोदरों को ?
शस्त्र थामने पड़े
सुकोमल कमलकरों को |
नहीं पिताश्री ने रहस्य यह
मुझे बताया ?
देखातो मैं
चकित रह गयी
श्यामल-धवल
उभय वर्णी छवि;
अपना ही प्रतिबिम्ब देखती
खड़ी रही मैं
अचल सजल हो !
गाधितनय भी
मुझे देखकर
स्वयं चकित थे !
मैं व्यस्क थी,
ऋष्यश्रृंग के साथ रही
हो कर तपस्विनी
फिर भी मेरा रूप
बन्धुओं से मिलता था |
वे भी तो वन में आये थे |
राजकुमार यशस्वी होकर
सहज तपस्वी |
मुनिवर ने
जैसे ही देखा मुझे
पृष्ठ संख्या : 49

किया संकेत
त्वरित उन राजसुतों को,
दोनों, हम दोनों के आगे
विनत होगये
पैर छुए जैसे ही,

मेरी देह
काँपने लगी अचानक

दोनों ऋषि
आनन्द मग्न थे |
मेरे सात्विक भाव देखकर |
परिचय के क्षण
भाव भरे हों,
फिर-फिर मिलने की आकांक्षा
उनसे उपजे
अद्वितीयता उनकी
संचित रहे

मनुजता की थाती बन
सबके मन में |

मेरे मन से
कभी नहीं मिटने वाली
पावन सुस्मृति वह
इष्टि-यज्ञ के बाद
जन्म ही देखा मैंने
अब वे इतने बड़े हो गये
कितने सुन्दर !
कितने मनहर !!
बड़ी बहन मैं,
जिसके घर आये हों,
सहसा दो-दो भाई

कौन कहे गति
उसके मन की
वन में पारिजात पुष्पों सी
बिखरी-बिखरी
सुख की राशि
समेट रही मैं
दोनों हाथ पसार धरा पर
छोटा पड़ने लगा अचानक
मेरा अंचल
पर उसको दे दी विशालता
बड़ी बहन के सजल दृगों में |
हरसिंगार के फूल,
अधिक थे
या सुख-संचित

मेरे आँसू
कौन बताये ?

पृष्ठ संख्या : 51

▪

विलीन शब्दार्थ

खो जाता है, नैतिकता का अर्थ,
पहुँच कर उस सीमा पर |
मानव स्वयं, कि लीला-पुरुष,
कि ब्रह्म-परात्पर |
धर्माधर्म, अनीति-नीति-पथ
पुण्य-पाप सब |
महा तीव्र गति में—
प्रतीत होते किसको कब ?
होता लय का बोध,
नहीं तो मात्र प्रलय का !
विलय नहीं हो पाता मन,
कारण संशय का !
सदा खोजता निलय,
अर्थ की लय पर चलकर
अहंकार रचनात्मक होता,
हृदय ताप-भठ्टी में गल कर |
मन ही साँचे गढ़ता,
ढलता स्वयं तरल हो |
अमृतमय हो जाता—
ओषधि रूप गरल हो |
बिम्बित-प्रतिबिम्बित होते,
रचना में जीवन-स्तर |
निर्मल जल में रूप देखता अपना,
सारी सृष्टि समोकर |

पृष्ठ संख्या : 52

कृति हो जाती प्रकृति,
विकृति को नया अर्थ दे |
सुकृतिमयी सौंदर्य-वृत्ति,
पाता अनर्थ दे |
निराकार, साकार,
भिन्नता छोड़ सृजन में |

पाते हैं परितोष
भावमय मानव-मन में |
पृष्ठ संख्या : 53

▪

शान्ता

शीश झुकाये
सोच रही थी
शान्ता मन में |
वनदेवी-सी
मौन खड़ी हो
जैसे वन में
एक लकीर
भाग्य-रेखा ज्यों
विद्युत घन में |
काल नेत्र-सी दिशा चीरती
क्षुब्ध गगन में |
भाई क्यों अशांत है,
चिन्ता जगी बहन में |
अश्रु भरे
राजीव नयन
डूबे छलकन में |
भोग रही
सारी विडम्बना
नत आनन में |
भीतर-भीतर
गहन व्यथा,
छटपटा रही थी |
ज्यों काँटे से बिंधी हुई मछली
तट पर फड़फड़ा रही थी |
पृष्ठ संख्या : 54

जल हो कर भी
जल के बाहर की तड़पन,
सहने को ही बना वक्ष वह
आलोड़ित समुद्र-मंथन में |
कैसे कोई कर पाये विवेक क्षण-प्रतिक्षण |

जब उलझें हो सूत्र
साध्य में या सधना में |
मैं सहोदर
कैसे सह लूँ
वह व्याकुलता
जो व्यापी हो,
निभृत व्योम की
किरन-किरन में |

पृष्ठ संख्या : 55

▪

शान्त-शृंगी-संवाद

शान्ता— भले अवध ने मुझे भुलाया |
दुख में, सुख में, नहीं बुलाया |
पर इस बार भिन्न है कारण |
दिया स्वयं नृप ने आमन्त्रण |
अंग राज्य में स्वयं पधारे |
कुछ भी हो, हैं पिता हमारे |

गुरु वशिष्ठ की त्रिकालज्ञता |
लिए साथ आदेश दिव्यता |
इष्टि-यज्ञ की सहज कामना |
मेरे भीतर बनी प्रेरणा |

शृंगी— क्या वशिष्ठ संदेश महा है ?
मुझ से तो कुछ नही कहा है ?
अब तक स्वर था भिन्न तुम्हारा |
हृदय जन्म से खिन्न तुम्हारा |
अब क्या हुआ, बिना कुछ पूछे |
फलने लगे मनोरथ छूँछे |
मैं क्यों करूँ यज्ञ ऐसों का |
परशु-भीरु दशरथ जैसों का |
मुझे अयोध्या से क्या करना |
वन में जीना, वन में मारना |
शृंग-युक्त मृग सबसे डरता |
तुमको भी तो भय से भरता |

पृष्ठ संख्या : 56

शान्ता— कैसी बात कर रहें ऋषिवर !
तेजवान् प्राणी को क्या डर ?
शृंगों का आघात जानती |

पर प्रियता को अधिक मानती |
राजमहल तक मेरे कारण |
हुआ तुम्हारा वन-विस्तारण |
अब कैसे वन भूल गया है ?
शय्या-सुख अनुकूल हुआ है ?
सदा घरजमाई रहना है !

शृंगी— शान्त बुद्धि में व्यंग उग रहे |
लगता, सिर पर शृंग उग रहे |
शय्या-सुख का वह स्वभाव है
दोनों पर पड़ता प्रभाव है |
यदि व्यंग्यों से उकसाओगी |
तुम भी शृंगी कहलाओगी |

शान्ता— क्या अब तक इतना ही जाना ?
व्यंग्य-स्नेह कैसे पहचाना ?
साथ सदा मुझको पायेंगे |
स्वयं शृंग यह झर जायेंगे |
साथ अवध क्यों नहीं चलेंगे |
अपमानित हैं यही कहेंगे |
पर क्या मुझको क्लेश नहीं है !
स्वाभिमान अवशेष नहीं है ?
मनोभाव से ऊपर उठकर |
अंतःकरण सुनाता निज स्वर |

शृंगी — मैं भी सुनूँ तुम्हारी वंशी |
गूँज रही होकर रघुवंशी |
कुलगुरु का आदेश बोलता |

पृष्ठ संख्या : 57

जन्मान्तर के द्वार खोलता
मुझसे बढ़ कर बात पिता की |
स्वयं रह गया मैं एकाकी |

शान्ता — इन्द्रजयी है सुयश तुम्हारा |
बनी तपस्यामय जल-धारा |
अनावृष्टि निःशेष हो गयी |
पृथ्वी का सब क्लेश धो गयी |
यज्ञ-सिद्धि-सामर्थ्य फलेगा ?
बिना तुम्हारे काम बनेगा ?

शृंगी — मुझसे कहें, विचार करूँगा |
भावी क्या है, कुछ समझूँगा |
यदि मन में संकल्प उठेगा !

वही करूँगा, वही लहेगा |

पृष्ठ संख्या : 58

▪

शान्ता- शृंगी

शान्ता— तुम्हें घेर लायीं गणिकाएँ |
स्नेह-प्रेम की वे क्षणिकाएँ !
पहली बार नारियाँ देखीं |
अलि ने कुसुम-क्यारियाँ देखीं |
मधु-पराग में डूब गया मन |
पर क्या उनसे ऊब गया मन ?
शृंगहीन मैं, तुम हो शृंगी |
महाभृंग तुम, मैं हूँ भृंगी |
दीक्षित होकर देते दीक्षा—
परिणय हुआ समाप्त समीक्षा |

शृंगी— भले रहीं हों मुझ पर छायी |
गणिकाएँ तुम तक ले आयीं |
त्यागमयी थीं, श्रेय ले लिया |
अपना मधुकर तुम्हें दे दिया |
कुछ कृतज्ञता नहीं हृदय में ?
कितनी हो ईर्ष्यालु प्रणय में !
शृंगवेरपुर तक सब आयीं |
चंपा की नौकाएँ लायीं |
मधुकर चंपा से आकर्षित !
कैसे हुआ रूप-संस्पर्शित ?

शान्ता— जब वर्षण स्वीकार हो चुका |
आकर्षण भी पार हो चुका |
तब जो कहूँ, वहीं सब करना |
पुरी अयोध्या से क्या डरना |

पृष्ठ संख्या : 59

साथ रहूँगी छाया बनकर |
प्राणों में नव काया बनकर |
इष्टि-यज्ञ अतिशय यश देगा |
मिले विफलता, अपयश होगा |
मिटा अवर्षण जब तुम आये |
अंग देश-सर्वांग समाये |
दिव्य शक्ति के तुम प्रतीक हो |

चरु-निर्मिति में तुम्हीं ठीक हो |

पृष्ठ संख्या : 60

▪

शान्ता-राम

ऐसा क्यों हो,
आयु पिता की—
शेष रही जो,
तुम्हीं जियो सब ?
पूछ रही मैं—
ऐसा क्यों हो ?
ऐसा क्यों हो ?
हम सब भी तो
जी सकते हैं
शेष आयु वह |
मैं प्रस्तुत हूँ,
मेरा जीवन—
स्वयं रहा वनवासी जीवन !
सीता-निर्वासन का
वह क्यों तर्क बन रही
आयु पिता की !
आयु पिता की !
आयु पिता की !
तुम्हीं नहीं हो दशरथ के सुत
तीन और हैं
और एक मैं भी हूँ शान्ता,
दशरथात्मजा !
सब भोगें वह आयु
तुम्हीं क्यों भोगो उसको ?
सीता-निर्वासन का कारण
बने वही क्यों ,

पृष्ठ संख्या : 61

नहीं मानती शान्ता उसको,
कारण तो तुम ही थे अन्तिम
सोचो क्या नहीं दुखी थे,
इस घटना से ?
नहीं बहाये आँसू तुमने,
एकाकी हो कर जीवन में ?
तुम कहते,

सीता की इच्छा
बन जाने की,
दोहद में—
उसको पूरा करना भी तो
धर्म तुम्हारा
पर इसमें निगूढ़ता क्या थी ?
क्या सीता में
साहस की कुछ कमी हो गयी,
अथवा उसको गोपनीय
रखना अभीष्ट था,
राजभवन में !
क्या वह इसे
तुम्हारी इच्छा मान रही थी ?
लक्ष्मण को भी नहीं बताया,
तुमने निर्वासन का कारण ?
क्या इसको भी लीला मानूँ
अथवा समझूँ
नये रूप में अग्नि परीक्षा ?
लक्ष्मण की भी !
सीता की भी !
महाराज हो !
महाशक्ति हो !
महापुरुष हो !
एक सगर्भा नारी की

ऐसी प्रताड़ना !
ऐसा निर्मम अनाचार,
कोमल तर्कों से ?
क्या पति का कर्तव्य यही है ?
क्या शासन की यही नीति है ?
क्या कहता है धर्म सनातन,
क्या समाज की यही रीति है ?
आयु पिता की शेष रही जो
और स्वयं सीता की इच्छा
धोबी का लांछन,
करनी ईर्ष्यालु ननद की,
यदि मैं सब कुछ सत्य मान लूँ
तो भी राम !
तुम्हारा मन निर्दोष नहीं था,
वह भी वैसा ही सदोष था,
जैसा था इस शान्ता का मन ?

इसी बिन्दु पर
लगता है हम लोग एक हैं,
एक पिता से जन्मे
भाई-बहन स्नेहमय |
यों स्वभाव है भिन्न
और तन भी अनेक हैं |
जैसे तुमने शिव-धनु तोड़ा,
उसी तरह संदेह तोड़ते,
छाया था जो सबके भीतर |
अशिव-धनुष सा !
क्या तुम में भी
वही लोक-भय व्याप्त नहीं था,
डर कर जिससे
त्याग दिया सीता को तुमने ?
जनाक्रोश से डर जाता है,

जैसे कोई प्राकृत राजा !
धनुष-भंग की शक्ति तुम्हारी
कहाँ गयी थी !
सीता भी थी वही,
कि जिसको
धनुष उठाना
कठिन नहीं था |
क्या रावण का स्पर्श
तुम्हें इतना भय देगा
सारी दृढ़ संकल्प-शक्ति
तुमसे ले लेगा !
नहीं छुआ जिस रावण ने
शिव-धनु, वह शिवता—
कहाँ गयी सीता के भीतर,
छल से, बल से, अपहृत होकर |
किसी पुरुष का छूना भर—
अपराध बना हो जिस संस्कृति में |
उसकी गति दुर्गति ही होगी,
द्वैतहीनता की संसृति में |

शिव मन को पावन करता है,
यह विश्वास, शिवत्व बना है
महा अशिव से भी ऊपर शिव
महादेव संकल्पमना है |

मानव के भीतर वह शिवता
गरल-कंठ बनकर आती है |
हो त्रिशूल, विष हृदय जलाता,
धरती अमृत हो जाती है |

शिव का परमभक्त था रावण,
तुम भी तो थे शिव-आराधक |

पृष्ठ संख्या : 64

द्वद्ंव हुआ क्यों तुम दोनों में
सीताहरण हुआ क्यों बाधक ?
वाणी भी है एक साधना,
ताप-हीन मन बने परंतप |
प्रियता ही उसका प्रसाद हो,
अन्तरंगता हो मनसा जप |
सीता को घर लेकर आये,
जन्म-कर्म-बंधन में डाला |
बोल न पाये एक शब्द भी—
कहा लोक ने दु:शीला ?
किन्तु उसी के अपहर्ता को
वध करके भी मुक्त कर दिया ?
कैसी करनी का कैसा फल,
राम तुम्हारी कैसी लीला ?
क्या रावण-वध नाटक ही था
या उसका कुछ अर्थ गहनतर ?
मानव-जीवन अर्थ खोजता,
संस्कृति के स्वरूप पर निर्भर ?
तुम तो शिव से ऊपर उठकर
विष्णु हो गये, राम हो गये |
परम परात्मक ब्रह्म कहाये,
कुंठा-विरहित धाम हो गये |
नाम-रूप तक मेरी गति है,
लीला-धाम तुम्हारी सीमा |
मेरा मन अब शिथिल हो रहा,
कर लो अपनी गति को धीमा |

पृष्ठ संख्या : 65

▪

राम-शान्ता

राम— आघात हुआ तो विषमयता जागी |
हो गये निरुत्तर, नारी-हीन विरागी |
मैं नहीं साथ था यह भी तो कारण था |
उनकी अस्थिरता, गति का संचारण था |
विधि की रचना में, मानव सहभागी है |
रोगी है, भोगी है, अथवा त्यागी है|
मुझको भी तो सीता-वियोग सहना था|
लक्ष्मण के हाथों स्वयं मुझे दहना था |
मर्यादा-रेखा स्वयं सर्प ने खींची |
अब कौन मिटाये उसे, क्रोध को सींची |
क्रोधाभिभूत चल पड़े, न समझा-बूझा |
योगी हो कर भी सत्य न उनको सूझा |
मेरी आज्ञा की हुई नितान्त उपेक्षा |
कर्तव्य-बोध मिट गया, तिरोहित प्रेक्षा |
सीता ने भी जो कहा, वज्र सा टूटा !
घट कालकूट का, जैसे सहसा फूटा |
वे मर्मान्तक संदर्भ कहे नारी ने |
सीमाएँ तोड़ीं, फूट चली क्यारी ने |
वाणी विषमय, कैसे घटना बन जाती |
भृकुटी कुंचित, प्रत्यंचा सी तन जाती |
चल पड़े कुटी से, नहीं धैर्य ने रोका |
डर गयी नियति, सहमा विवेक, जब टोका |
सुनते ही कटुतम शब्द, क्रोध से भरता |
लक्ष्मण होता तो वही कार्य मैं करता |

पृष्ठ संख्या : 66

शान्ता— मैं क्या सुनती हूँ तुमसे डरते-डरते |
लक्ष्मण होते तो वही कार्य तुम करते !
तुम शेष-शयन तज, स्वयं बन जाते |
तज शान्त-भाव निज, महाक्लेष बन जाते |

राम— लगता है तुमने एक पक्ष ही जाना |
उतना ही देखा, सत्य उसी को मान |
नारी होकर भी माया जान न पायीं |
नर ही है दोषी, क्यों पहचान न पायीं ?
नर-नारी से भी ऊपर सत्य रहा है ?
मुनियों ने देखा, तब निर्भ्रान्त कहा है |

मुझको वे तर्कातीत मानते हैं क्यों ?
मैं नहीं जानता, वही जानते हैं, क्यों ?
मैं भी सुख-दुख सहता हूँ मानव होकर |
पर दिव्य-तत्व जागत, हृदय में, सोकर |
मैं भी क्यों उसको स्वयं निषिद्ध बनाऊँ |
उसमें अपनी पहचान अगर मैं पाऊँ |
तुमसे मिलकर मैं शान्ताकार बना हूँ |
तब निराधार था, अब साधार बना हूँ |

शान्ता— अपने को तुम क्यों निराधार कहते हो |
पृथ्वी को धारे शेष रूप रहते हो |
यह सृष्टि, जहाँ तक दृष्टि मनुज की जाती |
विस्तार-विष्णुमय कहता मन-सम्पाती |
जब एक सूर्य को सहन, पंख जलाना |
अनगिन सूर्यों की बात अशब्द बताना |
अनुभव मेरा भी सूर्यवंश से आया |
सीता में भी तो तपता सूर्य समाया |
सारा प्रज्वलन तुम्हीं से उसने पाया |
सम-भाव भूलकर कहा उसे क्यों माया |
क्यों उसे अग्नि के भीतर किया समर्पित ?
यह कैसी लीला, जिसे मनुज हो अर्पित ?

पृष्ठ संख्या : 67

राम— लीला, लीला है, लीलामय जग सारा |
अन्यथा लगेगा पूरा जीवन कारा |
हैं जन्म-मृत्यु दो छोर, अबाधित गति है |
यमदण्ड लिये यमराज सशंकित मति है |
यदि चक्रव्यूह है जीवन, तो वेधन की—
विधि क्या हो, चिंता स्वाभाविक है मन की |

शान्ता— चिंता-सर्पिणि, चिता तक मन पहुँचाती |
मन को देकर विष-दंश मुमूर्षु बनाती |
सब लोग खोजते रहे अमृत की धारा |
पर नहीं मृत्यु-भय से मिलता छुटकारा |

राम— जाग्रत, सुषुप्ति से ऊपर रही तुरीया |
जीवन-गति कितनी गहन, नहीं कथनीया |
लीला, स्वभावतः ही, विरुद्ध-धर्मा है |
वह तर्क-शक्ति से परे, दुखद कर्मा है |
मन शब्दातीत, समग्र ज्ञान थाती है |
वाणी जिसको छूकर विराम पाती है |
तुम समझ सको तो वह प्रतीक-भाषा है |

परमात्म-तत्व ही मानव-प्रत्याशा है |
मुझको मानव ही स्वयं श्रेय देते हैं |
पावन प्रसाद की तरह प्रेय लेते हैं |
मैं भी हो जाता विवश भक्ति के आगे |
लील-पथ में आनन्द-भाव ही जागे |
केवल दुख ही दुख आत्म-भाव कैसे हो |
परमात्म-भाव सुखकर लगता, जैसे हो |
भूमा की छवि तो अन्तरिक्ष व्यापी है |
उसकी अप्रतिहत गति किसने नापी है ?

शान्ता— जीवन–यथार्थ को लीला छू पाती क्या ?
आदर्श-रूप के बिना सुगति लाती क्या ?
देवासुर की संघर्षमयी गाथा ही |

पृष्ठ संख्या : 68

है मानव-जीवन क्या केवल इतना ही ?
क्या द्वन्द्व-भाव से उठना हुआ असंभव |
जीवन-समुद्र क्या पी लेगा घट-संभव ?
खारापन ही तो नहीं, मधुरता भी है |
रसमयता कितने रूपों में आती है !

राम— मैं समझ रहा हूँ कुछ मन्तव्य तुम्हारा |
नर-नारी में एकत्व, अभीष्ट हमारा |
शान्ता— मैं नही मानती इस लीला-संभ्रम को |
उत्थान-पतन-मय जन्म-मृत्यु के क्रम को |
नारी से नर उपजा या नर से नारी |
संदेह-रहित उत्तर, है संकट भारी |
तुम पुरुष-भाव से ही क्यों जीवन देखो |
नारी-केन्द्रित रचना-विधान भी लेखो |
यह जगत् अर्द्ध-नारीश्वर होकर छाया |
है इसी रूप में अर्द्ध-पुरुष-मय माया |
सीता-निर्वासन करके राम अधूरा |
मैं शान्ता हूँ, चाहती राम को पूरा |
पूर्णता सूर्य की, खंडित हुई न होगी |
तुम नारी हो तो निश्चय ताप सहोगी |
नारी के भीतर से उपजी द्वाभा |
कितनी कोमल हो गयी सूर्य की आभा |
चाँदनी सूर्य के भीतर रही समायी |
जब उगा चन्द्रमा, मन से बाहर आयी |
जब सूर्य-बिम्ब में स्वयं कलंक समाये ?
क्यों इन्द्रासन बन गयी सोम की काया ?
झलमल जल में चल अन्तरिक्ष की छाया |

क्यों व्यक्ति 'राम' के आगे 'चन्द्र' लगाए ?

राम— इस कठिन प्रश्न का सृष्टि स्वयं ही उत्तर |
है सूर्य-चन्द्र दोनों प्रकाश से भास्वर |

पृष्ठ संख्या : 69

है समाकार दोनों की वर्तुलतायी |
यह सृष्टि-काव्य अतुकान्त, तुकान्त-विधायी |
मिल राहू-केतु दोनों को पीड़ित करते |
खग्रास-ग्रास आकाश त्रास से भरते
निर्विघ्न सृजन के बीच नहीं है कोई |
क्षण मात्र वही, जब सृष्टि प्रलय में सोई |
सीता जब मेरे सपनों में आती है |
आकाश समाहित धरती हो जाती है |
वर्षा होती तो स्वयं राम ही रोता |
तपता सूरज, बादल कलंक सब धोता |
तुम शान्ता हो, मैं भी प्रशान्ताकामी |
सीत-निर्वासन सहता मन अविरामी |

पृष्ठ संख्या : 70

•

राम-शान्ता-संवाद

शान्ता — घट-घट-वासी आप !
शान्ता क्यों सीता में व्याप्त नहीं है ?
आप सर्वव्यापी हैं !
मुझको ऐसा सुख क्यों प्राप्त नहीं है ?

लीला-पुरुष आप हैं, लीला-नारी सीता !
आदि-शक्ति है कभी, कभी रावण- भयभीता !
सीता की भूमिका कठिन है
दुष्कर भी है, जान रही हूँ |
पर मैं नारी हूँ,
नारी के भीतर सबको मान रही हूँ |

नारी-पुरुष, शान्ता-सीता,
रावण-राम, कहाँ है अन्तर ?
लीला तो लीला है, हम सब पात्र,
सृष्टि-व्यापार निरन्तर !

कण-कण में उसका प्रसार है,
क्षण-क्षण में उसका आवर्तन !
महाशक्ति ही उसका दर्शन,
महाकाल ही उसका नर्तन !

सृष्टि-क्रिया-प्रक्रिया सूक्ष्म है,
अद्‌भुत अग्निसोममय रचना !

पृष्ठ संख्या : 71

ब्रह्म अकल्पित, ब्रह्म असीमित,
वेद-निवेदित ऋतु-क्रतु-वचना !

कहाँ खोजता फिरे व्यक्ति
निज गौरव-गरिमा |
मानव में ही निहित,
स्वयं मानव की महिमा |

मेरी क्या तुलना सीता से
वह उपजी, धरती थी बंजर !
छिपी अग्नि में, प्रकट हुई फिर |
रघुकुल की मर्यादा तोड़ी,
नहीं बँधी रेखा के भीतर |
मृग-मरीचिका स्वर्ण-कामना,
सारहीन अनुभव में आकर |
माया-मृग से लुब्ध हो गयी |
नहीं कहा तो क्षुब्ध हो गयी |
झुक कर राम हो गये तत्पर
चले अनुज रक्षार्थ छोड़कर |
पुरुष पुरुष है, नारी नारी |
नियति समझती क्या बेचारी |

नारी भी तो नहीं समझ पाती नारी को |
निर्विकार मन क्या समझेगा संसारी को |

कैसे शब्द कहे सीता ने
पूछो लक्ष्मण के अन्तर से |
विक्षत वक्ष-स्थल था उनका,
पार कर गये होंगे विष-शर !

पृष्ठ संख्या : 72

क्या लक्ष्मण सीता-लोभी थे,
अथवा थे वे भरत-नियोजित ?
कैसे सीता ने सोचा यह,
नहीं रही क्या तुमसे परिचित ?

जब समुद्र-मंथन प्रतीक है,
तो सुमेरु ही उसका उत्तर |
देवासुर सहयोग चाहिए,
शक्तिमान हो मानव दुर्धर |
आप पुरुष होकर भी नत थे,
पिता-वचन अंगीकृत करके |
सीता हठ-वश चली साथ में,
हुआ अपहरण, आँसू ढरके |

अब तो पूरा नगर कह रहा,
कैसी थी सीता की करनी !
महाराज को नहीं ज्ञात क्या ?
रावण-छवि की रचना-सरणी !

चले आप ही स्वयं देख लें,
चित्र दशानन का सीता कृत |
सोयी धर निज वक्ष-स्थल पर
ध्यान-लीन ऐसे, जैसे मृत !

राम— क्या कहती हो शान्ते !
मुझको रत्ती भर विश्वास नहीं है
सीता तो मुझसे अभिन्न है,
सीता केवल श्वास नहीं है

दृष्टि तुम्हारी ईर्ष्यामय है |
वह विवेक का करती क्षय है |
फिर से सोचो, फिर से देखो |
वह अदोष, दोषी मत लेखो |

पृष्ठ संख्या : 73

राम निश्वसित मौन हो गये |
फिर अपने में स्वयं खो गये |

शान्ता की वाणी अशान्त थी
समझाये क्या, स्वयं भ्रान्त थी
मुख में जन्म-जन्म की कटुता |
बन बैठी शब्दों की पटुता |

शान्ता की धारणा दुर्धरा |
स्वयं केकई, स्वयं मंथरा |
देवाधीन हुई जिसकी मति |
मन की गति ही बनती दुर्गति |

शान्ता— लघुतर होंगे कभी,
आज तो तुम महान हो |
सीता हो धरती,
पर तुम आसमान हो !

सूर्य तपाता जब धरती को,
बादल आते, जल बरसाते |
सीता को निर्वासित करके,
तुम मन ही मन, अश्रु बहाते |
स्वर्गंगाओं का धारा-क्रम,
सूर्य-वंश आकाश व्याप्त है,
धाराएँ बनतीं ताराएँ—
क्रम उनका होता समाप्त कब ?
सीता-पृथ्वी, अन्तरिक्ष में,
महाकमल पर ओस-बिन्दु सी |
रूप-राशि करती परिक्रमा,
घटते-बढ़ते इंदु-सी |

▪

राम-शान्ता-संवाद

राम— पूरा जीवन जिया
किन्तु मैं समझ न पाया
नारी-मन को |
सीता हो या शान्ता
हैं दोनों रहस्यमय !
अविश्वास-विश्वास,
सत्य क्या, कैसे मानें ?
अनुभव तर्कातीत

बुद्धि से कैसे जानें |
नारी का पर्याय
रहा है केवल माया |
नर-नारी सम्बन्ध,
भूमि पर आतप-छाया |
मुझसे सीधी बात नहीं की,
छल-प्रपंच का लिया सहारा |
मुझे जिलाने वाले ने ही,
अविश्वास से मुझको मारा |
यह कैसी विडम्बना शान्ते !
यह रहस्य कैसा,
निगूढ़ता जिसकी जननी !
मेरी मति भी थकित हो रही,
जिसके आगे !

शान्ता— अग्नि-परीक्षा लेकर भी
तुम मौन रहे क्यों ?

पृष्ठ संख्या : 75

कहा रजक ने अपना अनुभव
किन्तु व्यंग्य से
समझ लिया सब के अनुभव ने
अवधवासियों के मन में भी
रही बात वह,
छिपी किसी कोने के भीतर |

मौन तुम्हारा बना समर्थन उस लांछन का
हार गये तुम उस गर्हित लोकापवाद से |
सिंहासन का मूल्य चुकाना पड़ा तुमें भी
रावण-विजयी स्वयं अवध में आकर हारा |
अपयश की तीखी कृपाण से
उसकी ही जनता ने मारा |
दशरथ-सुत के भीतर दशमुख रहा समाया |
घटना अग्नि-परीक्षा की तुम
एक बार भी नहीं कह सके,
सब के सम्मुख !
कैसी थी वाह लीलामयता
नहीं बताया प्रजाजनों को
जिस सीता का हुआ अपहरण
वह केवल माया-सीता थी |
उसकी पावनत-निर्मलता
रही अछूती, सत्य रूप में |

कितना गूढ़ रहस्य तुम्हारा
प्रकट राम भी नही जानते—
गुप्त राम के मन की करनी |
युगों-युगों से
विद्या और अविद्या का अन्तर करने में
द्वंद्व-ग्रस्त यह मानव-प्राणी जूझ रहा है
तुम धरती पर आकर कैसे बच सकते थे,
उस जीवन-व्यापी संकट से ?

पृष्ठ संख्या : 76

राम— बड़ी बहन होकर भी तुमने
अपनी भाभी पर
यह लांछन लगवाया !
गतिविधि देख तुम्हरा सहसा
सोच रहा मैं व्यथित विवश हो
सीता के प्रति
ऐसा अविश्वास गर्हित तम
नारी-नारी के प्रति
कितनी क्रूर हो गयी ?
क्या तुम दशरथ की पुत्री हो ?
अपने पर विश्वास अगर हो —
खाकर शपथ कहो तुम मेरी !
मुझे लग रह, जिन अनुभव से—
रोमपाद ही होंगे जनक तुम्हारे निश्चय
माता कौसल्या यदि होती,
कभी नहीं तुम करतीं यह सब !
तुम्हें देख कर याद आ रही
मुझे मंथरा !
कैकेई के प्रेम-भाव को,
कपट-कर्म से जिसने सहसा
द्वेष-भाव में बदल दिया था |

शान्ता— सत्य-संध हो राम !—
मानती हूँ मैं अब भी !
जो कुछ तुमने कहा—
असह पीड़ा का स्वर था |
और कौन सा मार्ग शेष था
राम! तुम्हारे मन की गति को
समझ सकूँ मैं |

पृष्ठ संख्या : 77

मैं ही क्या, सारा युग, समझे—
सीता के प्रति भाव तुम्हारा !
कितने त्यागी हो तुम
बिना पिता का शब्द सुने ही
केवल उनका वचन मानकर
मिलते हुए राज्य को निर्ममता से छोड़,
चल पड़े एक बटोही जैसे निःस्पृह
चौदह दिन की देर, वर्ष चौदह में बदली
सीता-लक्ष्मण सहित स्वयं बनवास ले लिया !

राम— यह सब कुछ था ज्ञात तुम्हें तो—
फिर मुझसे क्यों सत्य छिपाया ?
क्या था मेरा दोष
अभी तक जान न पाया !

शान्ता— अग्नि तुम्हारे ही मन की थी,
जली उसी में सीता |
नगर-सभ्यता संदेहाकुल,
वह वन-वासिनि, भीता |
कहाँ किया, प्रतिवाद
तुम्हारी वाणी ने निःसंशय ?
मौन रहे तुम,
आग तुम्हारे मन की, बुझी नहीं थी |
सीता जली उसी मैं
मानों प्रतिमा स्वर्णमयी थी |
स्वर्णमयी सीता तुमको स्वीकार हो गयी ?
जीविता सीता, अवधपुरी पर भार हो गयी ?
पूछ रही है आज अहल्या—
पाषाणी से जीवित होकर !
स्पर्श तुम्हारा शिथिल हुआ क्यों ?
पावनता की महिमा खोकर !

क्या उससे भी
सीता का अपराध अधिक था ?
बोलो, क्यों हो रहे निरुत्तर !
नारी का निष्कासन ही,
नारी की गरिमा ?
क्या मान रहा रघुवंश
इसे निज महिमा |
जाने क्यों तुमने
एक-नारि-व्रत साधा !
इस सूर्य-वंश में
रही कहाँ यह बाधा !

नारी न रहे तो
क्या विशेष क्षति होगी ?
पुरुषों के मन की
सदा यही गति होगी |
हे राम ! तुम्हीं से पुनः कह रही शान्ता !
जो तुम न सह सके, उसे सह रही शान्ता |

राम— जिस क्षण से मर्यादा तोड़ी
उसी समय से, मेरा-उसका
कोई नाता नहीं रह गया |
कैसे उसने कटु वचनों से—
लक्ष्मण का उर वेध दिया था !
लक्ष्मण-रेखा टूटी,
या मेरा मन टूटा |
सोचो, तुम्हीं बताओ शान्ता
मैंने क्या कुछ अधिक कह दिया ?
भाषा सत्य छिपाती कितना,
—कहना दुष्कर !

भाषा सत्य बताती कितना
—विधि ही जाने |

शान्ता— मान रही मैं,
अप्रत्याशित उस घटना में
स्वर्णमयी लंका की छाया
बनी स्वर्ण-मृग !
उस आकर्षण से विचलित हो
सीता की लालसा अन्ततः तुमने मानी |

माया-सीता की इच्छा
बन गयी काल-गाति—
सीता की वाणी
भविष्य वाणी कहलायी !
घटना-क्रम का रूप सिरजती
मृग-मरीचिका तो—
उस अनुभव की प्रतीक थी,
जो जल का आभास कहाती |

आखिर तुम क्यों चले, विवश हो—
उसी दिशा में ?
कैसे सहसा हुआ तिरोहित

वह विवेक जो सहज भाव से
सबके भीतर रहता जाग्रत !
लीला कहना उसे,
आत्म वंचना नहीं क्या ?
केवल नाट्य समझना
मानव की इच्छा को
उसके प्रति अन्याय बहुत है !
बेबस हरि-इच्छा कह कर भी
समाधान क्या होता मन का ?

पृष्ठ संख्या : 80

कुंठित हो जाता अपनापन
इस ऊहापोही अनुभव में |
राम— लंका की धरती पर
पुनरागत सीता से
कहे हुए वे वचन
सभी ने मान लिये तो
नहीं कहूँगा, मेरे मन में
मन्यु नहीं था, क्रोध नहीं था |
पंचवटी में, लक्ष्मण के प्रति
कही गयी जो कुत्सित वाणी
रहा सोचता—
सीता कितनी भिन्न हो गयी !
विद्या और अविद्या में
अन्तर ही कितना ?
विधि की गति कितनी अबूझ,
कितनी गूढ़ार्थी !
कैसे कहूँ कि सीता की वह कुटिल कल्पना,

मेरी ही थी, मेरी ही थी !
नारी की वह गर्हित वाणी
लक्ष्मण को ही नहीं
मुझे भी सह्य न होती !
जब भी कभी सोचता मन में,
सीता का वह रूप प्रज्वलित
अग्नि-बाण-सा दाहक लगता !
मेरी सीता कभी नहीं हो सकती वैसी ?
लीला यदि मेरी ही है—
तो मैं स्वयं कहूँ क्या ?

शान्ता— ऐसे क्रूर शब्द
कहने का साहस कैसे हुआ तुम्हें तब ?

वह भी वानर-दल के सम्मुख

पृष्ठ संख्या : 81

स्वयं निशाचर भी सुनते थे
जहाँ उपस्थित !
नहीं करेगी कभी क्षमा
तुमको यह संस्कृति |
नारी के प्रति
इतनी गर्हित, इतनी कलुषित
इतनी मर्मांतक कटु वाणी !
कहो कि मैंने नहीं कहा था
सीता के प्रति असहनीय सब !
कहो कि मैं हूँ राम,
धर्म का सेतु अनश्वर !
ऐसी मर्यादा से
क्या तुम बाँध सकोगे,
जन-समाज को, नारी-मन को ?
या मानव के अपनेपन को ?
ऐसी मर्यादा जो मन से नहीं उपजती
ऐसी मर्यादा जो हो केवल आरोपित
ऐसी मर्यादा जो अन्तर्द्वंद्व सिरजती
नहीं टिकेगी, नहीं टिकेगी, नहीं टिकेगी,
चाहे स्वयं राम ही उसके बने पक्षधर !
शान्ता की यह बात
सभी को सुननी होगी |
महापुरुष हो, महाराज हो
अथवा योगी !

राम— जब भी कुछ कहने को होता
वाणी स्वयं रुद्ध हो जाती |
अपने ही मन की सारी गति
अपने ही विरुद्ध हो जाती |
जीवन की कटुताएँ सहना

पृष्ठ संख्या : 82

फिर भी सहज संतुलित रहना
कभी-कभी दुष्कर हो जाता
अपनी गति, अपने ही भीतर
खो जाती है, सो जाती है |
अनुभव की शृंखला पिघलकर
और-और कुछ हो जाती है |

ऋषि-मुनियों की प्रेरक वाणी
संस्कारों में रही समाहित |
फिर भी अन्तर्द्वन्द्व उपजता,
मधुमयता कटुता से बाधित |
समाधान खोजते-खोजते
रुक जाता पथ, थक जाता मन |
प्रश्नाकुलता चुभती रहती,
स्वप्नलीन हो जाता क्रंदन |
राम स्वयं से कभी पूछता
अपनी छाया कंपित क्यों है |
दृढ़ता की पाषाणी प्रतिमा
शंकित क्यों है ? विचलित क्यों है ?
और किसी से क्या कहना है |
असहनीय को भी सहना है |

शान्ता— बात छिपायी उससे
जिसने निद्रा-भार्या त्यागी |
सुख-दुख सहे तुम्हारे कारण,
बात छिपायी उससे
जिसने शक्ति सही छाती पर |
नारी से भी ऊपर भाई,
समझा इस धरती पर |
कहा तुम्हीं ने, पर—
लीला से बाहर उसको माना |

सीता बनी रहस्य-धारिणी
लक्ष्मण ने क्या जाना !
सीता से कहना भी
कहना नहीं हुआ था |
अग्नि-परीक्षा लेने पर भी
क्रूर बन गये, किया प्रताड़ित !
क्या वह आर्य-वचन थे शोभित,
कहे गये जो सीता के प्रति
सबके सम्मुख !
नहीं कहा क्या राम तुम्हीं ने—
“जहाँ कहीं भी जाना चाहो,
जा सकती हो |
चाहो तो तुम वरण
किसी भाई का कर लो,
या कि निशाचर-राज
विभीषण को ही वर लो |”
नहीं कहा क्या राम तुम्हीं ने—

"नहीं तुम्हारे हेतु किया मैंने रावण-वध
मैंने तो निज वंश-प्रतिष्ठा की रक्षा में
वह निर्णायक, महाभयानक युद्ध किया था |
जय की ही कामना मुझे थी,
भार्या की भावना नहीं थी, मेरे मन में |"

शान्ता— वाल्मीकि का जीवनानुभव
और विधाता की उलटी गति
सृष्टि-कर्म में साधक होती
नहीं अमृतमय सब कुछ केवल,
विष की भी सत्ता है निश्चय !
राम— कहो, कहो शान्ता
मेरा मन शान्त कर रही शीतल वाणी !

पृष्ठ संख्या : 84

कितने दिनों बाद पाया मैंने छाया-सुख,
घनी छाँह, करुणा—कल्याणी
शान्ता— अपने मन की गहराई में
झाँक सको तो झाँको क्षण भर |
मानस में प्रतिबिम्बित रहता
ग्रह-तारा मय यह सारा नभ |
रंग-रूप यति-गति लय-नर्तन
जन्म-मृत्यु प्रतिक्षण परिवर्तन |
किन्तु शून्य तो शून्य मात्र है,
जीवन जल में,
उसका क्या प्रतिबिम्ब बनेगा ?
सूर्य-ताप से शापित होकर
वाष्प सदृश गति पा जायेगा |
पारदर्शिता खो जायेगी
पहचानी छवियों के भीतर !
राम— सूर्य-वंश की दृढ़ परम्परा
मेरे मन मे व्याप्त हो रही |
मैं अपवाद नहीं सह सकता,
लोक-चेतना बीज बो रही |
प्रजा-प्राण होना ही सार्थक
शासन, अनुशासन है मन का |
राम स्वयं अपनत्व त्याग दे,
सार यही लगात जीवन का |
राम और सीता अभिन्न हैं
योग-वियोग स्वभाव भिन्न हैं
फिर भी मैं कृतज्ञ हूँ शान्ते !
गर्व मुझे तुम पर ऋषि-कान्ते !

पृष्ठ संख्या : 85

▪

राम-शान्ता

राम— समासीन हों सादर
आसन समुपस्थित है |
सुधी अग्रजा के आगे,
यह राम विनत है |

क्षमा चाहता हूँ
मुझसे यदि चूक हुई हो,
भूल जायँ अपने मन से
जो हुआ, विगत है |

शान्ता— आदर से उठ जाना,
उठ कर आसन देना |
यही आपका शील
हृदय वश में कर लेना |

माना मैं हूँ बड़ी बहन
पर महाराज की एक प्रजा भी |
तभी मुझे सुख होगा
सम्मुख समासीन हों मेरी भाभी |

मैं तो रही पार्श्व में अब तक
और अन्त तक वहीं रहूँगी |
मंचन में नेपथ्य मात्र हूँ
दर्शक होकर यही कहूँगी |

राम— सीता का संदर्भ न दें
तो ठीक रहेगा !
जान रहा, निर्मम होकर—
क्या लोक कहेगा ?

पृष्ठ संख्या : 86

शान्ता— सम्बन्धों का क्रम ही

मन पर छा जाता है |
कैसे भूलूँ विगत,
सामने आ जाता है |

नारी की भावना
जानती केवल नारी |
पुरुष चाहता,
रहे सदा बनकर अधिकारी

स्वयं आपसे पूछ रही मैं,
निज सीता से हुई विरति क्यों ?
नहीं आपके वाम-पार्श्व में
अर्धांगिनि हो, समासीन वह ?
ऐसा क्यों है ?
ऐसा क्यों हो ?

गूँज रही थी अन्तःपुर में,
ऋषि-पत्नी शान्ता की वाणी |
राम मौन थे और निरुत्तर,
अन्तर्मन की पीड़ा ही थी उनका उत्तर |

मन ही मन कहती थी शान्ता
कुल-देवों के साथ निरन्तर
मेरा भी आशीष ग्रहण हो |
करें सदा कल्याण
रहें सविता मंगलमय,
नूतन युग का पुरश्चरण हो |
किन्तु प्रकट में, उसका कहना |
कवि का कर्म भाव में बहना |
पर विचार-अंकुश में रहना |

नारी की भावना
जानती केवल नारी |
पुरुष चाहता—
रहे सदा बनकर अधिकारी
नारी से नारी की समता |
करे पुरुष, जब पाये ममता |

इस समाज में
पत्नी सौभागिनी कहाती
किन्तु पुरुष निर्णायक होकर,
जब चाहे अर्धासन दे दे !
जब चाहे निर्वासन दे दे

कवि-कथन—
राम मौन थे, सब कुछ सुनकर
ऊहापोह हृदय के भीतर
प्रतिक्षण चलता रहा निरन्तर !
देख रहे थे—
निर्निमेष वे, शान्ता का मुख ?

शान्ता— अग्नि-परीक्षा लेकर भी
तुम मौन रहे क्यों ?
कहा रजक ने अपना अनुभव,
स्वयं व्यंग्य से
समझ लिया सबके अनुभव ने
अवधवासियों के मन में भी
रही बात वह
छिपी किसी कोने के भीतर |
मौन तुम्हारा, बना समर्थन—
उस शंका का, उस लांछन का !
हार गये तुम,
उस गर्हित लोकापवाद से |
सिंहासन का मूल्य चुकाना पड़ा तुम्हें भी |
अपयश की तीखी कृपाण से

तुम जैसे निर्मम शासक को
उसकी ही जनता ने मारा |
लंका जीती—
किन्तु अवध में आकर हारा |

कवि-कथन— दशरथ-सुत के भीतर
दशमुख रहा समाया |
एक बार भी नहीं कह सके
अग्नि परीक्षा की घटना वह
—सबके सम्मुख !

शान्ता— कैसी थी वह लीलामयता
नहीं बताया प्रजाजनों को
जिस सीता का हुआ अपहरण

वह केवल माया-सीता थी |
उसकी पावनता-निर्मलता
सत्य रूप में रही अछूती |
कितना गूढ़ रहस्य तुम्हारा
प्रकट-राम भी नहीं जानते
गुप्त-राम के मन की गति-विधि !

युगों-युगों से—
विद्या और अविद्या का अन्तर करने में
द्वंद्व-ग्रस्त यह मानव-प्राणी
निराधार हो जूझ रहा है |
—जूझ रहा है |
तुम धरती पर आकर
कैसे बच सकते थे—
जीवन व्यापी उस संकट से |

राम— वैदेही को देही कहना
तुम्हें इष्ट हो, मुझे नहीं है

पृष्ठ संख्या : 89

मैंने तो सीता के भीतर
पहचाना अपने स्वरूप को |

शान्ता— यदि सचमुच ऐसा ही है तो
कोख-बीज का अन्तर हो क्यों |
सीता में ही बीज-शक्ति है |
यही मानना राम ! उचित है |
उसके भीतर पुरुष निहित है |
यही मानना राम ! उचित है |

राम— सीता का निर्वासन,
मेरा ही निर्वासान |
प्रजा-दृष्टि से मर्यादित हो
छोड़ नही पाया सिंहासन |

शान्ता— ऐसा था तो
उसके प्रति कटु-वचन कहे क्यों ?
देना होगा राम !
तुम्हें इसका भी उत्तर |

मैंने तो आदर्श तुम्हारा
तुम्हें दिखाया |
दर्प नहीं रहता दर्पण से |
कितनी क्रूर तुम्हारी लीलामयता—
हो सकती है,
शान्ता होकर यही बताया |
हर प्रकाश के भीतर छाया |

संस्कृति की पहचान यही है |
नर-नारी में भेद नहीं है |

पृष्ठ संख्या : 90

▪

राम-शान्ता-संदर्भ

शान्ता— सीता के प्रति, कहीं तुम्हारे
मन में भी तो
नहीं रहा संदेह |

उतना ही गहरा
जितना था
तुमसे उसका स्नेह |
कहा धर्म-पत्नी
लेकिन क्यों किया
संधि-विच्छेद |

राज-धर्म ही
धर्म रह गया,
पत्नी-त्याग अखेद |

धर्महीनता
जहाँ कहीं हो,
त्याज्य कही जाती है |
व्यक्ति-समाज,
समत्व-भावना
राज्य कही जाती है |

एक सन्तुलन करता है,
कर्तव्यों का निर्धारण |
जाग्रत रहे विवेक निरन्तर,
क्यों हो क्लेश अकारण |
सात्विक मन,राजस बन बैठे,
और आचरण तामस |

पृष्ठ संख्या : 91

चौदह बरस बिताये वन में,
तुम कैसे हो तापस ?
सहधर्मिणी तुम्हारी सीता,
सकल राज-सुख त्यागा |
वही राज-सुख तुम्हें बना प्रिय,
या कर्तव्य अभागा |
पत्नी की रक्षा का व्रत क्यों,
मिटा अवध में आकर !
क्यों अदृष्ट में उसे ढकेला,
इस कगार पर लाकर ?
सीता को कर दिया सुरक्षित
अग्नि-ज्वाल के भीतर |
कैसा लीला-रूप तुम्हारा,
मानवता के बाहर ?
लक्ष्मण से भी नहीं बताया,
कैसे इतना अन्तर ?
स्पर्श-दोष से नहीं उठ सके,
तुम भी तल से ऊपर !

पंचवटी में रहे राम तुम
सीता–सह निर्द्वन्द्व |
शयन तुम्हारा, बना जागरण
लक्ष्मण का निस्पंद |
गुडाकेश था विरुद तुम्हारा,
लक्ष्मण का संसार |
सुयश पताका फहरी,
पाकर सुदृढ़ दण्ड-आधार |
हनूमान के रिनिया हो तुम,

पृष्ठ संख्या : 92

यह कैसी माया दुस्तरणी,
कैसा लीला-भाव ?
जिसने सब कुछ त्यागा,
सेवा थी जिसका जीवन-क्रम |
उस पर भी विश्वास नहीं था,
भक्ति हो गयी विभ्रम !
लीला की कल्पना अलौकिक,
विनय, अनय में घुलता |
लक्ष्मण को कैसा लगता
यदि भेद अचानक खुलता |
अग्नि-परीक्षा की घटना
क्यों नहीं अवध ने जानी ?
क्या वह भी थी केवल लीला,
हुई मौन क्यों वाणी ?
जिस लक्ष्मण से अग्नि मँगा कर,
किया सतीत्व-परीक्षण |
वही उसे ले जाये वन में,
बिना बताये कारण !
उसको भी तो लग सकती थी
जन-भावना अनैसी |
परम पुनीता सीता की
फिर आग्नि- परीक्षा कैसी ?
ऐसे क्रूर कर्म का तुमने
उसे बनाया साधन ?
कैसा वत्सल-भाव तुम्हारा,
यह कैसा आराधन ?
साधन बनना भक्ति नहीं है,
भक्ति सहज विश्वास |
वह कैसी लीला जो सबको
सदा बनाये दास ?

पृष्ठ संख्या : 93

अविश्वास की धरती पर

उगता जो अंकुर, विष है |
इसमें लीला कहाँ ?
विवशता का ही यह किल्विष है |

मेरी सोच, तुम्हारी करनी,
नहीं मिल रही संगति |
लीला का आनन्द तिरोहित,
गहरी हुई विसंगति |

सत्यसंध कहलाने को ही
तुमने पत्नी त्यागी |
"नारि हानि बिसेस छति नाहीं"
कह, बन गये विरागी|

मैं जानती, सत्य पर दृढ़ हो,
राज्य-त्याग यदि करते |
और प्रजा निज भूल समझती,
सीता-सह पग धरते |
पुरुष-प्रधान समाज
सदा नारी को नत-शिर रखता |
पातिव्रत सुवर्ण हो जैसे—
देकर दाह परखता |
संगति कैसे उपजे मन में
बिना विसंगति जाने |
दुर्गति मिटती, सतत
अगति के साथ सुगति पहचाने |
बिना मध्य-लय के द्रुत-लय भी
नहीं साधते बनती |

मात्र विलम्बित लय, बाधक हो,
ठहरेपन से सनती |
धरती का संगीत
गूँजता संबंधों के स्वर में |
मन पाता विश्राम राम !
रावण के नाभि-भँवर में |
चुपचाप राम सुनते थे शान्ता का स्वर |
जब असह्य हो गया, बोल उठे वे सत्वर |

राम— अन्तर्जीवन जब जाग्रत हो उठता है |
भौतिक जीवन सब नाटक सा लगता है |
मेरा मायामय रूप जान लोगी क्या ?
इस महाशून्य में परम ज्ञान लोगी क्या ?
यह दृष्टि-भेद तो एक साथ चलता है |
जो हैं विवेक से हीन, उन्हें छलता है |
माया का पट ही अंतरिक्ष को भरता |
नेपथ्य और मंचन में अन्तर करता |
शान्ते ! हो जाओ शान्त, कि थक जाओगी |
वाणी से मन को नहीं समझ पाओगी |
मन से भी ऊपर आत्मा-परमात्मा है |
मानव तो संशय-शापित जीवात्मा है |
लक्ष्मण भी जीव-स्तर पर ही रहते हैं |
तत्वज्ञ उन्हें इसलिये शेष कहते हैं|
उनका स्वभाव ही सदा क्रोध करना है |
कारण तो जाने दैव, हमें डरना है|
यदि क्षीर-समुद्र स्वयं सारा पी जायें
तो भी क्या विष से त्राण कभी वे पायें |
जब मैं सो जाता, वे रक्षा करते हैं|
पृथ्वी का सारा भार स्वयं धरते हैं|
धरती की तनया गयी साथ जो उनके |

हो इसमें क्यों आश्चर्य किसी को सुनके |
खींची लक्ष्मण ने मर्यादा की रेखा |
सीता ने लाँघी पर परिणाम न देखा |
कटु वचन कहे जो असहनीय थे इतने |
सुनकर लक्ष्मण भी मर्माहत थे कितने |
चल पड़े कुटी से, कहाँ धैर्य ने रोका |
डर गयी नियति, सहमा विवेक, क्यों टोका |
क्रोधाभिभूत चल पड़े, न समझा-बूझा |
योगी होकर भी सत्य न उनको सूझा |
मेरी आज्ञा की हुई नितान्त उपेक्षा |
होनी थी होकर रही, कृतान्त अपेक्षा |
कर्तव्य-बोध हो गया तिरोहित कैसे ?
जाग्रत विवेक भी हुआ विमोहित कैसे ?
चल पड़े सर्प-गति त्वरित फुंकरित होते |
जागते अहर्निश, नहीं कभी वे सोते |
वाणी विषमय कैसे घटना बन जाती |
भृकुटी कुंचित, प्रत्यंचा-सी तन जाती |

लगता है तुमने एक पक्ष ही जाना |
उतना ही देखा, सत्य उसी को माना |
नारी होकर भी माया जान न पायीं |
नर ही है दोषी, क्यों पहचान न पायीं |
नर-नारी से भी ऊपर सत्य रहा है |
मुनियों ने देखा, तब निर्भ्रान्त कहा है |
मुझको वे तर्कातीत मानते हैं क्यों ?
मैं नहीं जानता, वही जानते हैं क्यों ?
मैं भी सुख-दुख सहता हूँ, मानव होकर|
पर दिव्य-तत्व जागता हृदय में सोकर|
मैं भी क्यों उसको स्वयं निषिद्ध बनाऊँ|
अपनी पहचान, अगर मैं उसमें पाऊँ |

पृष्ठ संख्या : 96

तुमसे मिलकर ही शान्ताकार बना हूँ|
मैं निराधार था, अब साधार बना हूँ|
मुझको मानव ही स्वयं श्रेय देते हैं |
पावन-प्रसाद के सदृश प्रेय लेते हैं |
मैं भी हो जाता विवश प्रेम के आगे |
लीला कह कर आनंद भाव ही जागे |
केवल दुख ही दुख आत्मा कैसे देखे ?
परमात्म भाव रहता है सब के लेखे !

पृष्ठ संख्या : 97

▪

कवि-कथन

शान्ता ने देखा रूप काय-दर्पण में |
छवि राम देखते मानसमय-अर्पण में |
युगपत् अनुभूति हुई दोनों के भीतर |
सीता-लक्ष्मण हो गये समाहित-सीकर |
सब द्वन्द्व-भाव लीलामय होकर झलका |
दोनों की आँखों से आँसू बन छलका |
हर व्यक्ति प्रवाहित धारा होकर बहता |
कितनी लहरें, आवर्तन सहता रहता |
आकाश ना जाने कितने अचल सम्हाले |
पृथ्वी कितने कम्पन अपने में ढाले |

संवेदन के सब सूत्र टूटते-जुड़ते |
पथ मुड़ता अपने-आप पाँव भी मुड़ते |
गति की संगति इस बीच उभर आती है |
मन की पीड़ा विश्राम स्वयं पाती है |
छायातप से कोई भी नहीं बचा है |
स्रष्टा ने कैसा अद्‌भुत विश्व रचा है |

जाग्रत सुषुप्ति से ऊपर रही तुरीया |
जीवन है कितना गहन, अछोर उदीया |
लीला स्वभावतः ही विरुद्धधर्मा है |
वह तर्क शक्ति से रहित कठिन-कर्मा है |
वह शब्दातीत, समग्र-ज्ञान थाती है |
जिसको छूकर वाणी विराम पाती है |
मन समझ सके तो वह प्रतीक भाषा है |
परमात्म तत्व ही मानव की आशा है |

▪

सौन्दर्यमयी शान्ता

आत्मा के भीतर से उपजी
सुन्दरता ही बने एषणा |
वही उचित है, वही सुकृत है,
जिससे मन को मिले प्रेरणा |

सदा बहिर्मुख रहीं वृत्तियाँ,
जीवन में परितोष नहीं है|
सुन्दरता ही मन की थाती,
कला-कर्म में दोष नहीं है|

जब तक जीवन जुड़ा कर्म से
रहे कर्म ही उसका साक्षी |
और कुशलता निहित कला में
देती रहे दृष्टि कमलाक्षी |

सब कुछ मिल जाये मानव को,
इतना संचित कोष नहीं है |
कहीं पूर्णता आकांक्षित है,
इसीलिए संतोष नहीं है |

जीवन को पूरतीं कलाएँ
प्रतिक्षण प्रतिभा के निखार से |
सहज शून्य स्रष्टा बन जाता,

किरणों के व्यापक प्रसार से |

पृष्ठ संख्या : 99

प्रतिभा और कला की प्रेरक,
जीवन की अभिव्यक्ति निरन्तर|
इनसे ही संवाद गहन हो,
मिले व्यक्ति से व्यक्ति निरन्तर|

व्यक्ति-विहीन समाज-कल्पना-
रही असंभव, मात्र जल्पना |
बिना समाज व्यक्ति हो कैसे,
बिना रंग क्यों बने अल्पना|

दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं
इनमें पूर्वापर-क्रम कैसा,
इनकी सृष्टि सदा युग्पत्
यही सत्य है, विभ्रम कैसा ?

किरण तूलिकाएँ रच देतीं
अद्‌भुत छवियाँ शून्य भित्ति पर,
नहीं मकर तक उनकी सीमा,
नहीं रहीं वे सदा भयंकर |

काम स्वयं ही मंगलमय है
कला किसी पर लदी नहीं है|
लीला-दृष्टि यही कहती है,
यह जीवन त्रासदी नहीं है|

जन्म-मृत्यु, सुख-दुख, यश-अपयश,
विधि-गति से निर्धारित होते |
मन ही लय का अनुभव करता,
रंग-मंच पर हँसते-रोते |

पृष्ठ संख्या : 100

स्वयं सिद्ध विश्वास मनुज है,
अपनी आत्मा, अपना कारक |
सुन्दर से सुन्दर तर होती
लयमयता ही जीवन-धारक |

पंच-भूत के साथ सूर्य-शशि,

होतृ-रूप नवजीवन भरते |
यही ज्ञान, विज्ञान यही है,
अष्टमूर्ति शिव-मंगल करते |

ताण्डव हो या लास्य नृत्य हो,
दोनो में सर्वांग समाहित |
दोनों ही रचते मानव-मन,
लय से पूरित रूप प्रवाहित|

पृष्ठ संख्या : 101

▪

वाल्मीकि-शान्ता

शिष्य— राम–रूप में कोई कान्ता |
अपने को कहती है शान्ता |
दशरथत्मजा, दत्ता पुत्री |
किसकी अधिक महत्त, पुत्री |
ऋषि पत्नी कहती अपने को |
पाल रही सुन्दर सपने को |
विनत बदन, पुष्पांजलि कर में |
झुकी-झुकी अतिशय आदर में |
मूर्तिमान कर संयत स्वर को,
करती है प्रणाम मुनिवर को |

वाल्मीकि— शब्द सुने, फिर गहरे पैठे |
रहे ध्यान में मुनिवर बैठे |
कौन शान्ता, कैसे आयी ?
नगर छोड़ कर वन को धायी ?
ऋष्यशृंग मुनि की परिणीता |
पति-विहीन आयी ज्यों सीता |
कवि को लगा, राम ही आये |
नारी तन में, मन को भाये |
खोल दिये दृग, बोले सादर,
ले आओ, हो सत्य उजागर !
आश्रम को पावनता देती |
सारा पाप स्वयं पर लेती |
भूतल पर स्वर्गंगा आयी |
धवल-कमल-दल वर्षा लायी |

पृष्ठ संख्या : 102

ओस बिन्दु झरते, संचरते |
दिशा-दिशा अभिषेकित करते |
मंगल बेला, पावन लगती |
होम-धूम-मय सुरभि सुलगती |
तपः पूत नव पल्लव-छाया,
कौन साम-ध्वनि बनकर आया |
चरण छुये, पुष्पांजलि देकर |
साश्रु, नयन, कंटकित कलेवर |
चिर सौभाग्यमयी हो शान्ता |
कैसे आयी मुनिवर-कान्ता ?
इष्टि-यज्ञ के परम पुरोधा |
किसने उन्हें, कहाँ से शोधा |
विलम गये क्या हिरनी दल में ?
कविवर हँसे, कमल ज्यों जल में |
सदा साथ तुम यज्ञमयी हो |
प्रेम-मयी हो, क्षमामयी हो |
दशरथ की छाया नवकल्पी |
हृदय तुम्हारा शुभ संकल्पी |
लगा तुम्हीं अवतरित हो गयीं |
राम-रूप में ललित हो गयीं |
सीता का सुख तुम्हीं देख लो |
लव-कुश का मुख तुम्हीं देख लो |
प्रकट राम का भाग्य तुम्हीं लो |
पहले यह सौभाग्य तुम्हीं हो |
लो, तुम इनकी दीठ उतारो |
सगी-बुआ हो, तन-मन-बारो |

सीता— भरे कंठ से मुनिवर का स्वर !
सुना जहाँ सीता ने कातर !
देखा, जैसे राम आ गये |
आँखों में घनश्याम छा गये |

पृष्ठ संख्या : 103

लव-कुश दोनों नाम, सो रहे |
दो रूपों में राम सो रहे |
भाई की छवि, तुम पहचानो |
बड़ी बहन हो, तुम ही जानो |
जैसे भाई, वैसी बहना |

किसे सुहाया, घर का रहना |
शरण मिली मुझको आश्रम में |
मिला परम सुख, दुख के क्रम में |
मेरे लिये विदेह वही थे |
धरती माँ थी, स्नेह वही थे |
पर्ण कुटी साकेत वही थे |
मेरा मातृ-निकेत वही थे |
दोनों कुल उनको पहचाने |
मुझे मात्र सीता ही जाने |

पृष्ठ संख्या : 104

▪

शान्ता श्लोकमयी

कवि-कथन— शान्ताकारं नयनसुखदं, चाँदनी सूर्य-छाया |
शान्ता बैठी धरणितल में, भूमिजा कम्पिता थी |
आँखें भीगी लव-कुश-मयी वत्सला स्नेह-शीला |
दोनों का ही हृदय पिघला, हाथ में हाथ देके |

शान्ता— सोते-सोते फिर जग उठी, स्वप्न में दृश्य देखा,
फूले दो-दो नव कमल से, मानसी कल्पना में |
धायी आयी हृदय अपना ऊलता साथ ले के,
सीता माता कब बन गयी, क्या बुआ हो गयी मैं ?

वाल्मीकि— आओ बैठो दशरथ-सुता राम की अग्रजा हो,
कैसे आना इस क्षण हुआ छोड़ सारी अयोध्या |
आयी हूँ मैं मुनिवर स्वयं राम-संदेश देने,
मेरा माथा चरण-तल में है झुका आशिषा दें |

जायें त्यागी विपिन-पथ में, भूमिजा गर्भ-खिन्ना,
थापी जायें पुरट-प्रतिमा, साथ दे राजधानी |
कैसी माया, दशमुखमयी हो रही आज सीता,
जीती लंका प्रतिफल मिला, किन्तु हारी अयोध्या |

शान्ता-सीता-लव-कुश-युता स्नेह वात्सल्यपूर्णा |
जाने-माने मुनिवर-कृपा आश्रमी भूमिका में |
लालें-पालें जन-मन-मयी भाव-संभावनाएँ |
देखें-लेखें सब कुछ नये काव्य की सर्जना में |

माना, त्यागा, पर घर दिया भेज, यों जन्मते ही |
ये भी माना, परिणय हुआ, सो रही थी अयोध्या |

पृष्ठ संख्या : 105

शान्ता आयी हृदय अपना, स्नेह सद्भाव लेके |
जामाता की तब किसलिये घोर होती उपेक्षा |

शान्ता— आयी हूँ मैं मुनिवर स्वयं, राम का मर्म ले के,
सीता माता बनकर पुनः राजधानी पधारें |
जाती हूँ मैं, लव-कुश बढ़ें और फूलें-फलें भी |
मेरे छौने जुग-जुग जियें, ये दुआ है, बुआ की |

भूले कैसे सब कुछ स्वयं अग्नि-दाही परीक्षा |
जाने कैसे भरम मन में छा गया राम के भी |
कैसी तीखी रजक-स्वर में राज्य की भर्त्सना थी |
मैंने भी तो कुटिल बन के, बैर पूरा निबाहा |
दशरथ-तनुजा हूँ, राम की अग्रजा हूँ |
रघुकुल-स्वर-वंशी, वंश की कीर्ति-गाथा |
पर मुझ पर छाया क्यों पड़ी केकई की |
विधि-गति अति दुष्टा, कुत्सिता राजसत्ता |

वाल्मीकि— स्वर्णपूर्णा कमल-दल से राजलक्ष्मी स्वरूपा,
कैसी आयी समय पर ही, छाँह-सी राम-रूपा |
हर्ता-कर्ता अचरज-भरे कार्य साधे विधाता,
कैसे-कैसे अनुभव हुए, मैं यही सोचता हूँ |

कवि-कथन— शान्ता-समा पाकर दिव्य-कान्ता,
शृंगी लिये कोमल भाव- भंगी |
बने सदा पावन लोक-वंद्या,
रामाग्रजा प्रेरित अग्र-पूजा |

शान्ता— कोई पूछे सहज स्वर में, स्नेह की भावना से,
कोई आये, खुलकर कहे, किसलिए त्याज्य थी मैं ?
कैसे छाया अवधपुर में जन्मते ही अँधेरा,
मेरी काया मलिन फिर मैं क्यों हुई सूर्यवंशी ?

पृष्ठ संख्या : 106

कोई कैसे जगत-गति में सत्य अस्तित्व पाये,
काया-माया क्षणिक रहती, नित्य व्यक्तित्व कैसा ?
देवाचारी दशरथ पिता, भार्गवी दिव्य माता,
तो भी त्याज्या बन कर रही, जन्म मेरा हुआ क्यों ?

मेरी जैसी अजस-करनी, कर्म से भाग्यहीना,
होगी कोई जगत भर में और कन्या अधन्या ?
त्यागी जाये विवश क्षण में, मौन हों, जन्मदाता,
बेटी चेटी बनकर जिये, राज्य में दूसरों के |

कैसे जानूँ, हृदय-तल पर कौन सा शब्द आया,
कैसे रोकूँ व्यथित मन में लीन साधें अधूरी |
जैसे-तैसे मुखर स्वर में क्या कहूँ, मौन हूँ मैं |
भाषा कैसे सरल गति ले, दुःख की व्यंजना में |

कवि-कथन— अन्याय होता मन में सहे क्यों ?
निश्चेष्ट हो मौन बनी रहे क्यों ?
स्वभाव से होकर स्वाभिमानी,
नारी, स्वयं क्यों न करे अवज्ञा ?

समाज अर्द्धांगिनि मानता हो,
संसार देवी सम जानता हो |
तो भी यहाँ रूढ़ि यही बनी है,
सदैव पितुराज्ञा मातृहन्ता |
वशिष्ठ ब्रह्मर्षि रहें सदा क्यों ?
राजर्षि हों गाधितनै विचारें |
अधोमुखी वर्णमयी समस्या |
सम्मान्य हो ऊर्ध्वमुखी व्यवस्था |

कैसे कहें, शैव बने कुठारी,
मानें उन्हें, वैष्णव-धर्म-धारी |

पृष्ठ संख्या : 107

कठोर पितुराज्ञा मातृघाती,
तभी बने भार्गव राम क्रोधी |

क्रोध उन्हीं का सब पर छाया |

क्षत्र-घात प्रण बन कर आया |
जो भी क्षत्रिय थे, शंकित थे |
खर-कुठार से आतंकित थे

पिता अहन्ता, माता पीड़ा |
प्रकृति रहे कैसे सुख-नीड़ा |
दोनों को नवजात सहे क्यों ?
कलह-प्रेम निर्द्वंद्व बहे क्यों ?

समरसता की वत्सल छाया,
जब भी उपजी, मन भर आया |
योग-वियोग, काल-क्रम-धर्मी,
जिसने पहचान, वह मर्मी |

शान्ता— मुनिवर की करुणा से प्रेरे,
सीता मेरी, लव-कुश मेरे |
भले दूर हों, तन से मन से,
किन्तु नहीं बाहर जीवन से |

इसी बिन्दु पर मैं ठहरा हूँ,
कौन कहे कितना गहरा हूँ |
तत्व नाम से जाना जाता |
अनुभव से पहचाना जाता |

मैं अभाव हूँ उसी राम का,
जिसने सबको भाव दिया है |
मिला पिताश्री से निर्वासन,
क्रूर अवध ने घाव दिया है |

नारी-निर्वासन ही जैसे—
अवध-राज्य का धर्म बन गया |
किया कर्म जैसा दशरथ ने,
वही राम का कर्म बन गया |

मुझे जन्मते ही निर्वासन,

गयी प्रसव से पहले सीता |
जाने फिर से कन्या उपजे,
अवधपुरी रहती भय-भीता |

दो-दो पुत्र जने सीता ने,
दिया अवध को उसने उत्तर |
अब कैसे कह सकें राम यह
इन्हें नहीं आना अपने घर !

वत्सल थीं, उनकी आँखें भी,
आँसू किन्तु छिपाये मन में |
कितनी पीड़ा, कितनी ब्रीड़ा,
कितनी करुणा इस जीवन में |
छाया-भय लोकापवाद का,
रहता था निर्भय मेरा मन |
प्रतिक्षण तर्क-वितर्क सालता,
नरक हो रहा सारा जीवन |

आज राज-पद मुझे खा रहा,
सीता को निष्कासन देके |
मैं सिंहासन से चिपका हूँ,
मेरे पुत्र हुए कानन में |

▪

सीता-शान्ता

सीता-शान्ता
एक-प्राण
दूरी कहाँ !
बिना शान्ता
राम-कथा
पूरी कहाँ !
बिना ननद-भाभी के
घर-परिवार अधूरा |
भारतीय जीवन अपूर्ण,
आधार अधूरा |

भाई-बहन
रहें अनजाने
युगों-युगों तक ?
संस्कृति कैसे
बने फलवती
जनों-जनों तक ?

लोक-दृष्टि में
शान्ता भी दुष्टा बन आयी |
क्रूर हास-परिहास, भाग्य-गति,

उसे मिला अपयश,
आख़िर थी दशरथ की जायी |

किन्तु लोक ने उसे स्नेहशीला भी माना |
बहन राम की, ढेढ़िया फेरे, नजर उतारे,
होता भरत-मिलाप, राजगद्दी का अवसर,
दृश्य निराला-प्रतिमा देखे चौराहे पर |

▪

कन्या होना पाप नहीं है

नारी से ही नर उपजा है,
स्तन-चिह्न बने हैं साक्षी |
सत्य निहित है रचना-क्रम में,
ब्रह्मा से कहती कमलाक्षी |
माँ की गोद भूल जाता नर,
नारी का अधिकारी बनकर |
देख सके तो नर ही देखे,
अपने भीतर नारी बनकर |
नर-नारी के लीला-पथ में,
शान्ता का अस्तित्व कहाँ है ?

ब्रह्म-राम तो सीता-माया,
मानव का कर्तव्य कहाँ है ?
कवि ही इसका चिन्तन करते |
नयी नींव संस्कृति की धरते ||
धरती-दुहिता की दुख-गाथा |
कवि ने कही, झुक गया माथा ||
शापमयी ऋषि-वाणी आहत,
क्रौंच-मिथुन की हाय बन गयी |
हो शब्दार्थमयी करुणा ही,
कविता का पर्याय बन गयी |
सुनो राम ! शान्ता कहती है !
युग-युग की पीड़ा सहती है ||
कन्या होना पाप नहीं है |
नारी-जीवन शाप नहीं है ||

पृष्ठ संख्या : 112

•

परिशिष्ट

पृष्ठ संख्या : 113-114

शान्ता के प्रति निजी धारणा और उसके सजीव व्यक्तित्व की कल्पना

कविता को मैं तत्वतः स्मृति लक्षणा मानता हूँ | वह स्मृति से उपजती है, स्मृति को रचनात्मक स्वरूप देकर जातीय स्मृति का अंग बना देती है | वाल्मीकि का यह स्वानुभूत कथन "स्मारये त्वां न शिक्षये" जो उनकी रामायण में अनेक स्थलों पर आया है, भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि को नया अर्थ प्रदान कर्ता है |

किसी चरित का अर्थपूर्ण हो जाना और किसी काव्य का स्वयं चरितार्थ होकर जन-जन को प्रेरित करते रहना असाधारण ही कहा जायेगा | राम-कथा और रामचरित दोनों इसी अर्थ में विश्वव्यापी होने की क्षमता सिद्ध कर चुके हैं | यही नहीं आधुनिक युग में भी उनकी दीप्ति कम नहीं हुई है वरन् नये साधनों एवं नये माध्यमों से उनका और भी परिविस्तार होता जा रहा है | प्रभावात्मकता की दृष्टि से भी जन-भावना जितनी राम के साथ जुड़ी उतनी कृष्ण को छोड़कर और किसी के साथ नहीं जुड़ी | शिव और पार्वती लौकिक अस्तित्व वाले न होकर देवाधिदेव के रूप में सर्वोपरि मान्यता प्राप्त कर चुके हैं | पौराणिक अथवा अर्द्ध-ऐतिहासिक चरित के रूप में राम और कृष्ण से भिन्न विशुद्ध ऐतिहासिक चरित महावीर और बुद्ध का है जिनकी परम्परा हजारों वर्षों से जीवन्त रूप से जनसमाज को प्रेरणा दे रही है | मानवीय करुणा और अहिंसा उनकी पहचान बन गये हैं | ईसा और मुहम्मद भी ऐतिहासिकता की इसी कोटि में आते हैं पर वे भारत से पूरी तरह एकात्म नहीं हो सके | रसात्मकता की

दृष्टि से कृष्ण, और मर्यादा की दृष्टि से राम सर्वोपरि सिद्ध हुए हैं | दोनों भिन्न-भिन्न आदेर्शों के प्रतीक बन गये हैं | एक में रसात्मकता मुखर है तो दूसरे में कठोर मर्यादावाद एवं अनुशासन की प्रखरता | इसीलिए रामराज्य की कल्पना आज के युग में भी निरर्थक नहीं हुई है | गाँधी जी ने उसे हरिजनों के प्रति नयी दृष्टि के साथ समकालीन व्याख्या से जोड़ दिया | गाँधी युग के अन्यतम कवि जिन्हें राष्ट्रकवि का विरुद, जन-भावना के अनुरूप बापू ने ही सौंपा था उसे अपनाकर शासन-तन्त्र ने अपने को गौरवान्वित किया है | ऐसे राम-भक्त राष्ट्रकवि कवि मैथिलीशरण गुप्त की वाणी ने 'सिद्ध-रस' की मान्यता के अनुरूप यह प्रसिद्ध पंक्तियाँ

रच डालीं जो आगे भी स्मरणीय रहेंगी—

राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है |
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है ||

मैंने राम का स्मरण विलोम-भाव से 'शम्बूक' रच कर किया जिसे लोग राम-विरोधी मानकर मानवता की सही प्रतीति नहीं कर पाते | जैसा पात्र होता है कवि को वैसी ही वाणी देनी होती है | तदनुरूपता कला का तत्व है | परन्तु, तदनुरूपता ऐसी नहीं कि कृति, कृति न रहकर अनुकृति हो जाय | इसी रचना का रहस्य निहित रहता है| मैनें लिखा—

मनुजता हो जहाँ आहत, मूक,
वहीं उसका स्वर बने शम्बूक |

मनुष्यता की स्थापना करने वाला प्रतीक राम जब स्वयं अमानुषिक कर्म करने लगे तो प्रतिवाद का स्वर उठना ही चाहिए | मेरे मन में उसके लिये सच्चा स्फुरण जागा | मैं कैसे कह दूँ कि वह निराधार है | आपात्काल ने उसके स्वयं नया प्रतीक खोज लिया | लोग केवल अपनी छवि देखना चाहते हैं परन्तु कला उन्हें दूसरों की छवि का सौंदर्य देखने की प्रेरणा देती है और उसे आत्मसात् करने की भी | प्रायः इसी भाव से मैंने 'शान्ता' की खोज की है और अब भी कर रहा हूँ | कल्पना और रचना दोनों मेरे निकट कई वर्षों से सजीव अनुभव बन गये हैं |

'श्रृंगवेरपुरगौरवम्' में प्रो0 संगमलाल पाण्डेय ने शान्ता के सम्बन्ध में एक दार्शनिक एवं समाजशात्रीय सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत कुछ लिखा है जिसे मैंने काव्य के अन्त में समाहित इस परिशिष्ट के रूप में कर दिया है क्यों कि वह मेरी शान्ता विषयक धारणा का परिविस्तार करता है|

पूर्वोक्त डॉ0 फ़ादर कामिल बुल्के ने अपने कोशात्मक शोध-ग्रंथ 'राम कथा' में शान्ता विषय में द्वितीय संस्करण में प्रभूत सामग्री प्रस्तुत की है जो मेरे लिये प्रमुख आधार बनी | शान्ता की प्रेरणा से सीता द्वारा रावण का चित्र बनाना, जो मुझे चित्रकार के रूप में विशेष प्रेरक लगा; लोक-चेतना में भी वह शान्ता को द्रष्टा रूप में युगों से सजीव बनाये हुए हैं जिसका परिहार मैंने इस काव्य के अंतर्गत रचनात्मक रूप में करने का प्रयत्न किया है | वस्तुतः शान्ता को सजीव रूप में प्रस्तुत करने के लिए मेरा मन उद्वेलित रहा | देवी और दुष्टा के परस्पर विरोधी रूप के अन्तराल को भरने में मुझे चुनौती का अनुभव होता रहा | कविता यह काम निरन्तर करती आयी है | गुप्तजी ने कैकेयी का परिसंस्कार नयी कल्पना के साथ

किया | मैंने 'गोपा गौतम' में यशोधरा को नया रूप दिया और शान्ता में भी मेरी वह संस्कारवृत्ति जागरित रही | अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वृहत्तर भारत का जो रूप सामने आता है उसमें सीता के साथ शान्ता का रूप भी विकसित होता गया जो कम लोगों को ज्ञात है| दशरथात्मजा 'शान्ता' को कवियों ने प्रस्तुत तो किया है पर उसकी नयी कल्पना ने मुझे सबसे अधिक प्रेरित किया | 'शान्ता' का रेखांकन इसका प्रमाण है कि वह मेरे भीतर कितनी गहराई से प्रवेश किये हुए थी | बीमारी में भी मेरी रचनशीलता जाग्रत रही | 'शान्ता' ने 'शृंगी' जिजीविषा को संकट में भी टूटने से बचाये रक्खा | मैं इसे उसका वरदान मानता हूँ |

पृष्ठ संख्या : 117

▪

शान्ता : राम की बहन

वाल्मीकि ने रामायण का 'पौलस्त्यवधम्' ही नहीं 'सीतायाः चरितम्' भी कहा है | रावण-वध तक राम-कथा समाप्त महीं होती क्योंकि सीता का द्वितीय निर्वासन ही कथा को उस करुणा से जोड़ पाता है जो क्रौंच-वध की प्रतीकात्मक कथा को अर्थपूर्ण बनाकर व्यापक मानवीय संदर्भ दे देता है | पहला निर्वासन राम के लिए परेच्छाजन्य था परन्तु सीता और लक्ष्मण स्वेच्छा से राम के साथ जाने का निश्चय करते हैं | सीता का दूसरा निर्वासन परेच्छा से हुआ और उसमें इतनी करुणिकता थी कि भवभूति के कवि हृदय ने 'एको रसः करुण एव' कहकर करुण रस की असाधारण अनुभूति की और सारी राम-कथा को करुण-कथा बना दिया | इस करुणा की संवाहिका सीता ही बनी | राम की तीन विशेषताएँ बतायी हैं—एक वचन, एक बाण, एक नारी | अद्वितीयता ही राम की महिमा का द्योतन करती है पर रावण भी अद्वितीय सिद्ध होता है | देवासुर-संग्राम की छाया में राम-रावण परक द्वन्द्वात्मक पक्ष विकसित होते हैं पर भक्ति के समावेश ने वैर भाव केन्द्रित भक्ति की संभावना ने पूरा परिदृश्य ही बदल दिया | 'वैरभाव सुमरहिं मोहिं निसिचर' के अनुसार राम-रावण दोनों ही पक्ष मूलतः शिव-भक्त सिद्ध हुए |

शैव-वैष्णव की हरिहर परक एकता उत्तर भक्तिकाल की असाधारण विशेषता है जो रामचरितमानस में सर्वोपरि रूप में व्यक्त हुई है | हरिहरात्मक जीवन-दृष्टि भारतीय संस्कृति का सार प्रतीत होती है जिससे जुड़कर राम-कथा और व्यापक हो गयी | शिव में ज्ञान-तत्व और विष्णु में भाव-तत्व अधिक प्रधान दिखायी देता है | ब्रह्मा का महत्व आत्मजा सरस्वती से परिणय के कारण लांछित हो गया अतः वे त्रिदेवों में मान्य होकर भी धीरे-धीरे अनुपस्थित होते गये | उनकी शक्ति कृष्ण में समाहित हो गयी | यही कर्मशीलता कृष्ण-भक्ति में रस बनकर प्रकट हुई है जिसका प्रभाव रामकथा पर गीता और भागवत के समन्वित रूप से मानस में आया

पृष्ठ संख्या : 118

है | मेरे विचार से प्राचीनकालीन औपनिषदिक चिन्तन गीता में, मध्यकालीन पौराणिक चिन्तन भागवत में और लोक-चेतना से समन्वित भाषिक चिन्तन रामचरितमानस में पुंजीभूत रूप में व्यक्त हुआ है | मानस इसीलिए रामकथा-धारा का प्रतीक बन गया | 'रामो विग्रहवान धर्मः' की वाल्मीकीय धारणा तुलसी तक आते-आते भरत को 'सकल धरम धुर धरनि धरत को' कहकर उन्हें राम से भी

अधिक महत्ता देने लगी | राम का चरित उनके ब्रह्मत्व से इतना आच्छादित हो गया कि मानव भावनाओं के लिये तुलसी को भरत का मानवीय आदर्श स्थापित करना पड़ा |

मैथिलीशरण गुप्त भी तुलसी से प्रेरित होकर 'आदर्श ही ईश्वर है हमारा' के रूप में ईश्वर की नयी व्याख्या करने लगे | उनके आगे 'राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या ?' का प्रश्न जब एक ढीठ बालक की तरह सामने आकर खड़ा हो गया तो उन्होंने वात्सल्य का रास्ता अपनाया | द्वापर लिखा, यशोधरा लिखी | रामकथा में वात्सल्य कृष्णकथा की तरह प्रधान रस कभी नहीं पाया | अधिक से अधिक वह सूर का अनुसरणकर्ता होकर रह गया | निष्कासन के कारण सीता का वात्सल्य भाव रूप में विशेष पल्लवित नहीं हुआ | कृषि से उत्पन्न शेष अन्न-कण 'लव' बन गये| कृषि से पूर्व धरती की पुत्री जो उगती थी वह 'कुश' ही थे | अतः दोनों स्थितियों के द्योतक लव-कुश उनके दो पुत्र माने गये

धरती की पुत्री रूप में सीता का प्रतीकार्थ युगानुरूप विकसनशीलता रखता है | इसके भी दो रूप हो गये एक वह जो धरती का धर्म होकर सीता में आया और दूसरा रूप वह जो लांगलपद्धति कहलाता है अर्थात् हल चलाने से धरती पर बनी रेखा विदेह जनक द्वारा जब सोने का हल चलाया गया तो वही सीता धरती से उत्पन्न हुईं | राजा द्वारा कृषक-धर्म अपनाने से ही दुर्भिक्ष का निवारण हो सका | जनकात्मजा सीता की तरह दशरथत्मजा शान्ता भी दुर्भिक्ष-संदर्भ से जुड़ती हैं | अंगदेश के असह्य दुर्भिक्ष से त्रस्त होकर ऋष्यशृंग का आवाहन नाटकीय विधि से किया गया और उनके अवध के समीपस्थ बन से अंगदेश पहुँचते ही उनकी तपस्या के प्रभाव से सूखे का निवारण हो गया | यह दोनों संदर्भ वर्षा से जुड़े हैं पर पुरुष में भी जब वर्षण शक्ति का अभाव हो जाता है तो दूसरे प्रकार का सूखा सामने आने लगता है | दशरथ को अंधमुनि के शाप के कारण कोई पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ|

शान्ता को दशरथ की पुत्री मानने का अर्थ होता है कि रानियाँ ही वंध्या थीं, दशरथ सन्तानोत्पत्ति में अशक्त नहीं थे | ऐसा मानना अन्तःपुर में अपनी प्रतिष्ठा

गिराना होता | अतः शान्ता को अयोध्या से बाहर भेज दिया गया | परशुराम का आतंक भी कारण हो सकता है | जैसे कंस पुत्र-पुत्री में विवेक नहीं करता था, उसने कृष्ण के स्थान पर लायी गयी कन्या एकानंशा को पटक कर मारने की चेष्टा की तो वह आकाश में आदि-शक्ति रूप में व्याप्त हो गयी | कृष्ण को कंस के भय से ही गोकुल भेज दिया गया | शान्ता को दशरथ ने रोमपाद के यहाँ क्यों भेजा इसका कारण स्पष्ट न होने पर भी यह बात उस युग में अविश्वसनीय नहीं लगती | दशरथ का स्वयं शृंगी-शांता को बुलाने अंगदेश जाना अर्थपूर्ण घटना लगती है इसीलिए शान्ता को दशरथात्मजा और रोमपाद की पालिता कन्या मान लेना युग-चेतना और लोक-भावना को संगत लगा |

यहाँ शान्ता संबंधी समस्त कथा-विकास 'ज़ामाता' से जुड़कर ही फलित होता है | यदि शृंगी को रोमपाद का ही जामाता मान लिया जाय तो दशरथ को स्वयं अंगदेश जाकर उन्हें सपत्नीक आमंत्रित करना आकांक्षा रहित लगने लगता है | कुछ अपेक्षा रह जाती है जिसकी पूर्ति आवश्यक लगती है | शान्ता के परिणय पर पहुँचकर परशुराम का शृंगी से उसका विवाह कराना और आशीर्वाद देना क्षत्री-ब्राह्मण संघर्ष की पृष्ठभूमि में नया अर्थ देने लगता है | भार्गवराज की पुत्री से शान्ता की उत्पत्ति मानी गयी है पर शान्ता का मातृत्व दशरथ की तीनों रानियों को भी देनें का उपक्रम रामकथा में मिलता है | मानसपीयूष ने सुमित्रा को, कीकवी नाम से कैकेयी को और एक अंतर्कथा में

कौशल्या को यह यश प्रदान किया है | कौशल्या से शान्ता की उत्पत्ति परिणय-पूर्व मानी गयी है | इसी कारण रोमपाद को शान्ता के पालन-पोषण का भार दिया गया क्योंकि वे दशरथ के परम मित्र थे |

पृष्ठ संख्या : 120

▪

राम—काव्यों में शान्ता का अस्तित्व

'उत्तररामचरित' में भवभूति ने शान्ता और उनके पति ऋष्यशृंग को पात्रता दी है पर केवल सन्दर्भ के लिये—

नट— कन्यां दशरथो राजा शान्तां नाम व्यजीजनत
अपत्यकृतिकां राज्ञे रोमपादाय तां ददौ ||4||

महाराज दशरथ को शान्ता नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई थी, जिसे उन्होंने राजा रोमपाद को दत्तकपुत्री के रुप में दे दिया | विभाण्डक ऋषि के पुत्र ऋष्यशृंग ने उस (शान्ता) से विवाह किया | उन्हीं (ऋष्यशृंग) ने बारह वर्षों में समाप्त होने वाला एक यज्ञ प्रारम्भ किया है | उन्हीं के अनुरोध से लगभग पूरे दिनों के गर्भवाली जानकी को छोड़कर घर के सभी बड़े लोग (वशिष्ठ भी) गुरुजन अथवा कौशल्या आदि कहीं चले गये हैं |

सूत्रधार— सर्वथा व्यवहर्तव्य कुतो ह्यवचनीयता |
यथा स्त्रीण्यं तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः ||5||

लोग स्त्री और वाणी में सदा दोष देखते रहे हैं |

जामाता शब्द का प्रयोग, श्लोक तीन में भी प्रथम सर्ग में भवभूति ने किया है |

वसिष्ठधिष्ठिता देव्यो गता रामस्य मातः |
अरुन्धती पुरस्कृत्य यज्ञे जामातातुराश्रमस् ||3||

महर्षि वशिष्ठ की देखरेख (संरक्षण) में श्री रामचन्द्र की तीनों माताएँ (कौशल्यादि) देवी अरुन्धती को आगे कर यज्ञ के लिए (अपने) जामाता (ऋष्यशृंग) के आश्रम गयी हुई हैं | वैदेशिको / स्मीति पृच्छामि | कः पुनर्जामाता ?

सूत्रधार— मैं विदेश का रहने वाला हूँ इसी से पूछता हूँ जामाता कौन महाशय हैं |

नट ने जो उत्तर दिया वह सबसे ऊपर इसी पृष्ठ पर श्लोक 4 के रूप में दिया गया है |

अयोध्या में पहले पहल कन्या जन्म अप्रत्याशित था | परशुराम का भय भी था | अतः उसे गोद दे दिया गया और बाद में भी चिन्ता नहीं की गयी |

पृष्ठ संख्या : 121

उत्तररामचरित के आधार पर वाल्मीकि रामायण के अर्थ को सर्वथा स्पष्ट कर दिया गया है | राजा रोमपाद को दशरथ ने अपनी कन्या दत्तक पुत्री के रूप में (अपत्कृतिकां) दे दी थी | किस माता से जन्म कब, किसलिए दशरथ ने ऐसा किया इसका कारण स्पष्ट नहीं है | न शायद कोई जनश्रुति ही मिलती है | इसलिए कवि के रूप में इस खाली जगह को अपने हिसाब से सांस्कृतिक परम्परा को ध्यान में रखते हुए कवि को पूरा अधिकार मिल जाता है | वृष्टि, अनावृष्टि, ब्रह्मचारी से राजकन्या का अकस्मात् परिणय अर्थपूर्ण लगता है |